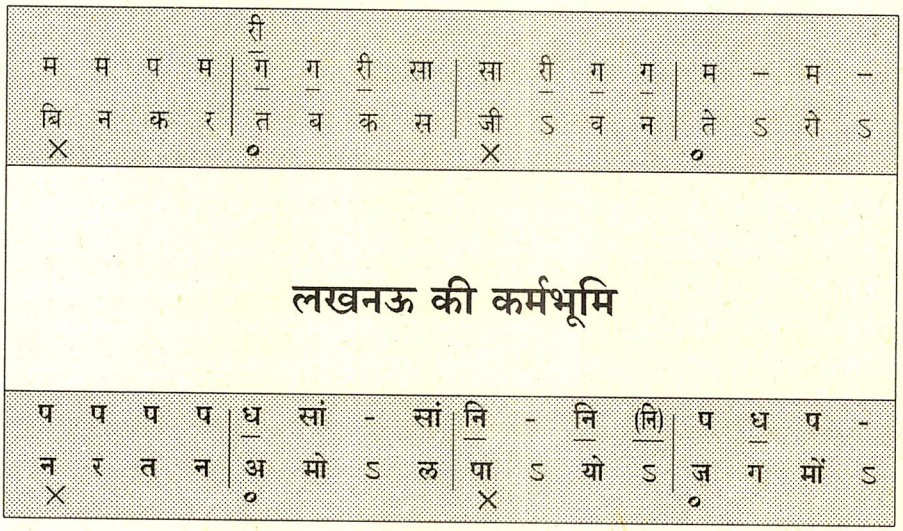

पं. भातखंडेजी अपने परम प्रिय शिष्य रातंजनकर को न केवल विद्वान महफिली गायक के रूप में देखना चाहते थे, बल्कि उनकी यह भी आकांक्षा थी कि अपने 'बाबू' के हाथों संगीत के क्षेत्र में और ऊंचे और उपयुक्त कार्य संपन्न होते रहें। उनकी यह आकांक्षा थी कि अबतक मैंने संगीत के संबंध में जो अनुसंधान किया है उसका प्रचार महाराष्ट्र के बाहर बड़े पैमाने पर हो जाए। यह काम किसी संगीतकेंद्री संस्था के द्वारा ही हो सकता था। अबतक सैद्धांतिक धरातल पर पंडितजी के ही अथक प्रयत्नों से बहुत कुछ विचार-विनिमय अखिल भारतीय संगीत-परिषदों के व्यासपीठ पर होता रहा था। उस काल तक पांच अ. भा. परिषदें आयोजित हो चुकी थीं।– (१) बड़ौदा (मार्च १९१६), (२) दिल्ली (दिसंबर १९१९), (३) बनारस (दिसंबर १९२०), (४) लखनऊ (दिसंबर १९२४), (५) पुनश्च लखनऊ (दिसंबर १९२५)। इन परिषदों की आयोजना में पंडितजी का प्रधान उद्देश्य यह था कि इनके जरिए संगीत के सभी उस्तादों और पंडितों को एक मंच पर इकट्ठा होने का अवसर मिले ताकि उनके आपसी सैद्धांतिक मतभेदों में से कोई तारतम्य निकलने की दिशा में कुछ आशादायक परिस्थिति पैदा हो सके। निश्चय ही उन्हें अपनी अपेक्षा के अनुसार कुछ उपयुक्त ज्ञान और सामग्री प्राप्त हो सकी और उसका उपयोग उन्होंने अपने भावी लेखन-कार्य में कर लिया।

पंडित भातखंडे अपने कार्य के लिए किसी संस्था का सबल आधार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। दिल्ली में संगीत अकादमी की स्थापना करने में उन्होंने अपनी पर्याप्त शक्ति और समय लगाया, किंतु सफल नहीं हो सके। इधर दरियाबाद (लखनऊ) के धनी, उदार और संगीतप्रेमी एवं कर्मठ तालुकदार श्रीमान **राय उमानाथ बली** अरसे से इस कोशिश में थे कि लखनऊ में किसी संगीत-विद्यालय की- स्कूल ऑफ म्यूजिक की- स्थापना हो जाए। वे ऐसे किसी अधिकारी और लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति की खोज में थे जिसके परामर्श, मार्गदर्शन और सक्रिय सहयोग के इस महत्त्वाकांक्षी प्रयास की परिपूर्ति हो सकेगी। कहना न होगा कि उनके दृष्टिपथ में तुरंत पं. भातखंडे का ही नाम आया। पंडितजी ने अन्यान्य अखिल भारतीय संगीत

परिषदों में जो जागरण पैदा किया था उसको उन्होंने दिल्ली और बनारस की परिषदों में उपस्थित रहते हुए देखा था। स्वयं संगीत के बड़े प्रेमी थे। इनको निकट से देखा था। आश्रय में कई वेतनभोगी गायकवादक थे, जिनमें हम पहले उ. नजीरखां का उल्लेख कर चुके हैं। अकबरपुर के ठाकुर राजा नवाबअली से रायसाहब ने पंडितजी के विषय में काफी कुछ सुना था। अत: पंडितजी के ग्रंथों एवं अनुसंधानों को लेकर उनके मन में अतीव आदर और प्रेम था। उन्होंने लखनऊ में संगीत-विद्यालय खोलने का अपना प्रस्ताव पंडितजी के सामने रखा और कहा कि इस योजना की पृष्ठभूमि के रूप में इसी वर्ष याने १९२४ की अखिल भारतीय संगीत परिषद का आयोजन लखनऊ में बुलाया जाए; उसके समूचे प्रबंध का दायित्व हम लोग स्वीकारने को तैयार हैं। उस समय संयोग ऐसा था कि पं. भातखंडे अपनी विफलताओं के कारण अत्यंत खिन्न और निराश थे। फलत: अपनी भावी योजनाओं के कार्यान्वयन के हेतु लखनऊ के विद्यालय के सिवा कोई विकल्प शेष नहीं था। उन्होंने तुरंत रायसाहब का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। संगीत-परिषद लखनऊ में धूमधाम से मनाई गई और इसी सम्मेलन में अखिल भारतीय संगीत महाविद्यालय की स्थापना का ऐतिहासिक निर्णय लिया गया।

मैरिस म्यूजिक कॉलेज

१९२४ में ही एक और सहायकारी संयोग निकल आया। इस वर्ष राय उमानाथ बली के भतीजे डॉ. राय राजेश्वर बली शिक्षा मंत्री बन गए। आप स्वयं संस्कृत और फारसी के विद्वान थे और कला तथा संगीत में गहरी दिलचस्पी रखते थे। इससे उमानाथजी को अपनी योजना को साकार बनाने में उनसे बहुत सहायता प्राप्त हो सकी। राय राजेश्वरजी ने भी अनेक प्रकारों से महाविद्यालय के निर्माण में हाथ बंटाया। उन्होंने तत्कालीन संयुक्त प्रांत, आगरा और अवध के ब्रिटिश गवर्नर को **सर विलियम मैरिस** महाविद्यालय के नामाभिधान के साथ अपना नाम जोड़ने के लिए राजी कर लिया। संस्था का नाम 'इंडियन म्यूजिक असोसिएशन' रखा गया और उसके प्रेसिडेंट सर मैरिस मनोनीत हुए। संस्था का पंजीकरण भी किया गया और वह सरकारी अनुदान की हकदार हो गई। शेष व्यय को निभाने का दायित्व जिला लखनऊ के बहुतांश तालुकदारोंने स्वीकार लिया था। स्पष्टत: उनके अगुआ राय उमानाथ ही थे और महाविद्यालय का आर्थिक पक्ष अंतत: वे ही संभालनेवाले थे। संस्था के कार्य में अकबरपुर के राजा नवाबअली भी, जो स्वयं अच्छे संगीतवेत्ता थे, सहर्ष सहभागी हुए। इस प्रकार छोटे छोटे मुल्कों में जितने तालुकदार थे उनसे थोड़ा थोड़ा धन एकत्रित करके एक पर्याप्त राशि मूलधन के रूप में संग्रहीत हो गई और उसके आधार पर १६ सितंबर १९२६ ई. में कॉलेज का शुभारंभ हो गया। आरंभ में उसका नाम 'ऑल इंडिया मैरिस कॉलेज ऑफ हिंदुस्तानी म्यूजिक' रखा गया। कुछ कालोपरांत 'ऑल इंडिया' शब्द हट गए और 'मैरिस कॉलेज ऑफ हिंदुस्तानी म्यूजिक' नाम व्यवहृत हो गया और 'मैरिस म्यूजिक कॉलेज' कहलाते हुए उसका लघुरूप 'एम्. एम्. सी.' भी प्रयोग में आने लगा। ध्यान देने की बात है कि १९२६ में सबसे पहली सरकारी अनुदान-प्राप्त संगीत-संस्था लखनऊ की 'इंडियन म्यूजिक असोसिएशन' ही थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'एम्.एम्.सी.' के लिए यह अत्यंत गौरवास्पद बात थी और इसकी वजह से आगे पर्याप्त कालावधि तक यह कॉलेज भारत के और भारत के बाहर के संगीत-साधकों के आकर्षण का केंद्र बना रहा।

स्पष्ट ही महाविद्यालय के शिक्षा-विधान में पं. भातखंडेजी का ही सहभाग महत्वपूर्ण था। आर्थिक पक्ष को संभालने का दायित्व रायसाहब ने लिया था किंतु प्रत्यक्ष शैक्षणिक पक्ष की याने पाठ्यक्रम, अध्यापन, परीक्षाएं आदि की संकल्पना और परियोजना को बनाने का काम भातखंडेजी के सिवा और कौन कर सकता था? यहां ध्यान देने की बात है कि पंडितजी के सामने किसी दूसरे महाविद्यालय के पाठ्यक्रम का 'मॉडल' नहीं था। क्योंकि भारतभर में संगीत का यही पहला महाविद्यालय था। फिर भी इसके पूर्व बड़ौदा और ग्वालियर के संगीत विद्यालयों का पाठ्यक्रम बन चुका था, जिसे स्वयं पंडितजी ने ही बनाया था। उसीके आधार पर पंडितजी ने यह पाठ्यक्रम अत्यंत सुविहित रूप में गठित किया, आगे उसमें कुछ संशोधन भी उन्होंने किए और रेखांकित करनेकी बात है कि पं. मदनमोहन मालवीय ने बनारस हिंदू यूनिव्हर्सिटी के लिए, गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांतिनिकेतन के लिए और समानांतर रूप में अन्य महाविद्यालयों ने इसी 'मॉडेल' को स्वीकृत कर लिया।

मैंने इसके पूर्व लक्षित किया है कि पं. भातखंडेजी अपने संगीत संबंधी अनुसंधान का प्रसार और प्रत्यक्ष गायन-वादन में उसका अनुप्रयोग व्यापक तौर पर महाराष्ट्र के बाहर करवाने के आकांक्षी थे। यह कार्य अपने विद्यासंपन्न शिष्य बाबू उर्फ श्रीकृष्ण के माध्यम से करने का यह सुअवसर सभी के प्रयत्नों से उपस्थित हुआ। वे अण्णासाहब को इस कॉलेज के साथ आरंभ से ही संबद्ध कर देना चाहते थे। इधर १९२६ के पूर्वार्ध में अण्णासाहब बी. ए. उत्तीर्ण हो चुके थे। संभवत: अपने गुरु के समान ही वकील बनकर शेष समय में संगीत का कार्य करने की दृष्टि से वे एलएल.बी. के कोर्स के लिए अपना नाम दर्ज करने की सोच रहे थे। इसी बीच एक दिन पं. भातखंडेजी ने अण्णासाहब से कहा– "बाबू, तुम्हें अब लखनऊ चलना होगा।" तब अण्णासाहब ने सकुचाते हुए एलएल.बी. के लिए नाम दर्ज करने की अपनी मनीषा उनपर प्रकट की। पंडितजी ने इसपर कोई टिप्पणी नहीं की; बात वहींपर रह गई।

किंतु जब यह बात श्री नारायणराव के कानों तक पहुंची तब वे अपने बिट्टू पर बहुत ही रुष्ट हो गए; यों कहिए कि उन्होंने 'बिट्टू' को आड़े हाथों लिया। उन्होंने कहा- "तुम पर लानत है! तुम हमारे बेटे कहलाने योग्य नहीं हो। गुरु के आदेश की अवहेलना? मेरे घर से निकल जाओ। पंडितजी तुम्हें अपना कर्तव्य निभाने के लिए बुला रहे हैं, बल्कि तुम्हें अवसर दे रहे हैं। उनकी इच्छा को शिरोधार्य मानकर तुम्हें जाना चाहिए।" अण्णासाहब के लिए अपने पिता तो श्रद्धा और आदर का केंद्र थे। उनकी इस ताड़ना का प्रभाव उनपर हुए बिना कैसे रहता? अब सोचने पर लगता है कि अण्णासाहब वस्तुत: अपनी भीतरी प्रेरणा से वकालत का पाठ्यक्रम चुनना चाहते थे या तत्कालीन काल-प्रवाह में बहकर केवल सहपाठी ग्रेजुएटों का अनुकरण करना चाहते थे, इसका निर्णय करना एक तरह से कठिन है; किंतु लखनऊ पहुंचने के उपरांत संगीत-शिक्षा, राग-निर्माण, बंदिशों की रचना आदि में आपने जो जौहर दिखलाए उससे तो यही प्रमाणित होता है कि विधाता ने उन्हें न्यायालयों की पैरवियों में उलझाने की अपेक्षा संगीत के 'संवादी' वातावरण में अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए ही गढ़ा था।

इस प्रकार अपने गुरुवर पं. भातखंडेजी के आदेशानुसार अण्णासाहब जुलाई १९२६ में मैरिस म्यूजिक कॉलेज में एक प्राध्यापक के नाते काम करने के लिए उपस्थित हुए।

आरंभ में महाविद्यालय की छात्रसंख्या उतनी आशाजनक नहीं थी। उस काल संगीत की

साधना के प्रति सभ्य समाज में न केवल निरुत्साह की भावना थी, बल्कि इस उपक्रम को प्रतिष्ठा के विरुद्ध भी माना जाता था। सच तो यह है कि महाविद्यालय के विधायकों को और विशेषत: पंडितजी को समाज में प्रचलित इस दृष्टिकोण में ही परिवर्तन लाना था और कालक्रम के साथ इस लक्ष्य की पूर्ति संतोषजनक रूप में हो सकी। शुरू में छात्रसंख्या की कमी पर एक उपाय सोचा गया। उस काल लखनऊ में संभ्रान्त परिवार के जो सुविद्य सज्जन थे, उनके साथ संपर्क स्थापित किया गया। उन दिनों सर्वश्री राधाकुमुद एवं राधाकमल मुखर्जी, धूर्जटीप्रसाद मुखर्जी, प्रो. सिद्धांत ये सब बंगालीबंधु जो लखनऊ में आकर बसे थे, उनको संगीत में विशेष रुचि थी। धूर्जटीप्रसाद मुखर्जी यूनिवर्सिटी प्रोफेसर थे। कोई योगी अरबिंदो के तो कोई गुरुदेव टागोर के शिष्य थे। धूर्जटीप्रसादजी ने तो कहा कि मैं पहले अपना नाम दर्ज करता हूं। उनका नाम पहले लिखा गया। फिर इन गण्यमान्य विबुधों की देखादेखी अन्य घरों के युवा लोग भी कॉलेज में पढ़ने के लिए उत्सुक हो गए।

प्राध्यापकों के नाते शुरू में जो नियुक्तियां हुईं उनमें स्वयं अण्णासाहब, उनके साथ ग्वालियर के माधव संगीत विद्यालय के कंठसंगीत के स्नातक 'संगीत रत्न' श्री जी.एन. नातू, लखनऊ के ध्रुपदिए अहमदखां, सारंगीनवाज बाकरअलीखां और लखनऊ के जाने-माने तबलावादक आबीदहुसेनखां थे। कुछ महीनों के बाद दक्षिण हैदराबाद के तानरसखां घराने के बाबा नसीर, वृद्ध गायक छोटे मुन्नेखां, नानासाहब पानसे के घराने के पखावजवादक श्री सखाराम गुरव तथा माधव संगीत विद्यालय, ग्वालियर के एक और स्नातक श्री बी.एस्. पाठक इन सभी की नियुक्ति हो गई। इन नामों से पता चलता है कि कॉलेज के प्रबंधकों ने, जिनमें पंडितजी के शैक्षणिक परामर्श को सर्वाधिक महत्त्व था, आरंभ से ही उच्च कोटि के कलाकारों एवं अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर लिया था। महाविद्यालय के सांगीतिक महत्त्व को जनता तक पहुंचाने की दृष्टि से समय समय पर शिष्यों तथा अध्यापकों के गायनवादन के कार्यक्रम आयोजित किए जाते। पं. भातखंडेजी महाविद्यालय के कार्य को सुचारु रूप से गतिमान करने के हेतु मार्च १९२७ तक लखनऊ में ही रहे। इस दीर्घ अवधि में उन्होंने महाविद्यालय की गतिविधियों पर बारीकी से ध्यान दिया। कभी कभी कक्षाएं पढ़ाते और छात्रों के लिए संगीतशास्त्र पर भाषण दिया करते। १९२८ से ३३ तक पंडितजी वर्ष में कम से कम दो बार लखनऊ अवश्य पधारते और कॉलेज के कार्यों में दखल देते तथा अन्य आवश्यक बातों के संबंध में अध्यापकों को परामर्श दिया करते।

कॉलेज के प्रिन्सिपल के पद पर आरंभसे ही किसी संगीत के विद्वान की ही नियुक्ति करने की अपेक्षा भातखंडेजी ने दूसरा मार्ग अपनाया, जिसमें पं. भातखंडेजी की एक विशेष दूरदर्शिता थी। कॉलेज के दो पक्ष होते हैं। एक शैक्षणिक और दूसरा प्रशासनिक। शैक्षणिक पक्ष तबतक सुचारु रूप से पल्लवित नहीं हो पाता जबतक प्रशासनिक पक्ष पक्की बुनियाद पर खड़ा न हो। फिर जहां सरकारी अनुदान होता है वहां तो बीसों प्रकार के पत्राचार और नियमावलियों का परिपालन आदि सब का निर्वाह पूरे दायित्व के साथ करना पड़ता है। पंडितजी इन सब बातों को जानते थे। अत: उन्होंने १९२६ से १९२८ तक प्रिंसिपल के नाते एक अवकाशप्राप्त प्रशासनिक अधिकारी को ही नियुक्त किया। महाविद्यालय के पहले प्राचार्य बंबई के **श्री माधवराव जोशी** रहे। ये सज्जन पुणे में शासकीय शिक्षा विभाग में अधिकारी थे और उन्हीं दिनों वहां से अवकाश ग्रहण कर चुके थे। आप भातखंडेजी के अभिन्न मित्र **श्री दत्तात्रय केशव जोशी,** जिनका

नाम 'हिंदुस्तानी संगीत पद्धति' की क्रमिक पुस्तकों पर संपादक के नाम से छपा हुआ मिलता है, के छोटे भाई थे और संगीत में और मुख्य रूप से पंडितजी के कार्य में विशेष रुचि रखते थे। संगीत का अभ्यास उनका कोई खास नहीं था, किंतु प्रशासनिक अनुभव पक्का था। दो वर्ष तक श्रीमान जोशीजी ने प्राचार्य का पद संभालकर महाविद्यालय के प्रशासन को सुचारु रूप से चलाया और तत्पश्चात् अण्णासाहब रातंजनकर उस पद पर आसीन हुए। इन शुरूवाले दो वर्षों में अण्णासाहब ने महाविद्यालय के प्रशासन के विषय में काफी कुछ जान लिया था, फिर आगे उन्होंने अपनी मेधा के बल पर उसमें काफी सुधार भी किए और १९५६ तक उनका बहुमूल्य नेतृत्व – दोनों पक्षों में, प्रशासनिक एवं शैक्षणिक – महाविद्यालय को मिलता रहा।

कर्तव्य-बंधन

महाविद्यालय की आर्थिक स्थिति वैसे गंभीर ही थी। किंतु इसमें से जो मार्ग निकला उसमें भारतीय संस्कृति के त्याग, तपस्या और कर्तव्यपालन का आदर्श ही प्रमाणित हुआ। मैंने अभी बताया कि साल डेढ़ साल की अवधि में कॉलेज का नाम अत्र-तत्र फैल गया। किंतु धीरे धीरे कॉलेज की स्थापना में रायसाहब और उनके सहयोगियों ने जो धन लगाया वह समाप्ति पर आने लगा। वैसे अध्यापकों को कुछ अधिक वेतन तो नहीं दिया जा सकता था; यही पंद्रह से पचास तक योग्यतानुसार दिया जाता था। प्रिंसिपल बनने के बाद अण्णासाहब का वेतन एक सौ पचास हो गया, किंतु वह भी हर महीना नियमित रूप से मिलना कठिन था। फिर भी सीमित छात्रसंख्या के कारण केवल शुरूवाली पूंजी पर महाविद्यालय का रथ हांकना संचालकों को मुश्किल गुजर रहा था।

पं. भातखंडे लखनऊ आए और यह सारी परिस्थिति देखकर उनके मन में आया कि मेरे शिष्य 'बाबू' को केवल मेरी आज्ञा पर यहां अल्प वेतन में काम करना पड़ रहा है; अब उसे आगे भी इसी तरह त्यागपूर्वक यहां रहो यों कहना कहांतक समीचीन होगा? सब सोच-विचार के बाद उन्होंने अण्णासाहब से कहा –

"देखो मैंने तुम्हें यहां बुलाया था; अब तुम्हें अपने वचन से मुक्त करता हूं। अब तुम्हें बंबई जाने की इच्छा हो तो मेरे साथ लौट सकते हो।" जब यह वार्तालाप हो रहा था तब राय उमानाथजी वहीं पर मौजूद थे। कॉलेज में नियुक्त हो जाने के बाद उसके आधारस्तंभ रायसाहब से अण्णासाहब का अकृत्रिम स्नेह स्थापित हो चुका था। वे अण्णासाहब को 'श्रीकृष्णा' के निकटतर संबोधन से संबोधित करने के 'हकदार' हो गए थे। (यह इसलिए कह रहा हूं कि इस नाम से हमारे गुरुवर को पुकारनेवाले दूसरे बुजुर्ग एक ही थे – उस्ताद फैयाजखांसाहब!) फिर इस कालावधि में अण्णासाहब कॉलेज के माहौल से रचपच गए थे। तो जब रायसाहब ने पंडितजी की उपर्युक्त बात सुनी तब वे अपने को रोक न सके। उन्होंने भावभीने स्वर में पूछा –

"श्रीकृष्णा, तुम हमें छोड़कर जा रहे हो?"

प्रश्न बहुत छोटा था; किंतु अंत:करण के भीतर से पूछा गया था। इस सारे भावपूर्ण वातावरण का यों असर हुआ कि अण्णासाहब के मुख से हठात् निकल पड़ा-

"नहीं, रायसाहब नहीं। मैं आपके साथ ही रहूंगा। मेरा यह वचन है।"

पंडितजी को अपने शिष्य के इस उद्‌गार से कितना संतोष और कितनी प्रसन्नता हुई होगी,

इसका अनुमान हम कर सकते हैं। यहां हम देखते हैं कि अण्णासाहब ने सोच-समझकर ही संगीत की अभिवृद्धि के उद्देश्य से, अपने महनीय गुरुवर के आदर्शों का अनुसरण करते हुए और रायसाहब जैसे निष्ठावान नेता का साथ देने के हेतु अपने पारिवारिक सुख, व्यावसायिक सफलता, सुरक्षित सुखमय जीवन आदि सबको न्योछावर कर दिया। आगे चलकर हम लखनऊ के उनके निवासस्थान, दिनचर्या आदि के संबंध में देखेंगे तो इस त्यागवृत्ति के और और पहलू खुलेंगे।

१९२८ में श्री माधवराव जोशी ने प्रिंसिपल पद से अवकाश लिया और अण्णासाहब महाविद्यालय के प्राचार्य नियुक्त हुए। महाविद्यालय के सर्वाधिकारी की हैसियत से संस्था की सभी स्थितियां धीरे धीरे उन्हें अवगत होती गईं। कॉलेज के लिए वार्षिक आठ-एक हजार का शासकीय अनुदान मिलता था, जो बहुत ही अपर्याप्त था। और वह भी कभी छः महीने तो भी आठ महीने विलंब से प्राप्त होता था। अण्णासाहब ने इस बारे में एक दूसरा ही रवैया अपना लिया था। जब भी अनुदान हाथ में आ जाता तब वे उसे पहले अध्यापकगणों मे बांट देते थे और बचे हुए अंश को - जो अत्यल्प रहता – अपने लिए रख लेते।

अध्यापन-प्रणाली

उस कालखंड में हिंदुस्थानी संगीत के क्षेत्र में सामूहिक अध्यापन की दो ही प्रणालियां प्रचलित थीं। दो युगपुरुष उसके विधाता थे – पं. विष्णु दिगंबर तथा पं. भातखंडे। परंतु दोनों पद्धतियों में, दोनों के दृष्टिकोण में आपको पर्याप्त अंतर मिलेगा।

लाहौर में १९०१ में विष्णु दिगंबरजी ने गांधर्व महाविद्यालय को स्थापित किया तब वहां पर उन्हीं छात्रों को पक्की तालीम के लिए प्रवेश था जो 'बॉण्ड' या अनुबंधपत्र लिखकर आते थे। ऐसे चुने हुए छात्रों को खास शिक्षा देकर पंडित पलुसकरजी ने उनका एक 'उपदेशक वर्ग' बनाने की पद्धति चलाई थी। उन्हींके द्वारा वे सर्वसाधारण छात्रों को गायन-वादन की शिक्षा दिलाते थे। इसके लिए उन्होंने एक लघुरूप पाठ्यक्रम बनाया था। उदाहरण के लिए, इस पाठ्यक्रम में आरंभिक तौर पर बड़े स्वरांतरवाले राग सिखाने का विधान था। उसमें यह विचार था कि स्वरांतर बड़े होंगे तो स्वर गले में आसानी से बैठ जाते हैं। यह उनकी अपनी एक दृष्टि थी। फिर राग की पहचान हो जाने के बाद उन रागों के सरल गीत सिखाए जाते थे। पंडितजी कहा करते थे कि मेरा उद्देश्य तानसेन बनाने की अपेक्षा 'कानसेनों' (याने जानकार श्रोता) का निर्माण करना है। फिर भी उन्होंने गुरुकुल पद्धति से कुछ शिष्यों को श्रेष्ठ गवैयों के रूप में विकसित किया और अपनी सामूहिक शिक्षा पद्धति से 'कानसेनों' की एक पीढ़ी तैयार कराई।

इधर लखनऊ में पं. भातखंडेजी ने अपना जो पाठ्यक्रम बनाया था उसका स्वरूप अलग था। इस पद्धति के मूल में रागों की 'ठाठ संकल्पना' थी, जो स्वयं आप ही के अनुसंधान का फल था। ठाठ पद्धति के अध्यापन में अपेक्षा यह थी कि छात्रों को इन दस ठाठों में होनेवाले रागों का स्वरज्ञान भली प्रकार से हो जाए। अर्थात् यहां स्वरज्ञान पर अधिक बल दिया गया था। याने यहां पर कुछ हद तक परंपरागत उस्तादों की शिक्षा-प्रणाली का आधार लिया गया था। पुराने उस्ताद जिस प्रकार पल्टे घुटवाते थे, वही तरीका यहां अपनाया गया। उस्तादी प्रणाली में यह स्वरज्ञान भैरव, भैरवी और यमन के पल्टों को घुटवाकर कराया जाता

था। भातखंडेजी ने भी उसी पद्धति का अनुसरण किया। इसमें यह शर्त रखी गई थी कि छात्र को एक वर्ष की अवधि में बारह स्वरों का भलीभांति ज्ञान हो जाना चाहिए।

लखनऊ के महाविद्यालय में एक एक 'पीरिएड' जो एक कक्षा का होता था डेढ़ घंटे का रहता था। प्रतिदिन (छुट्टियों को छोड़) ऐसी कक्षाएं ली जाती थीं। कक्षा के कार्य-क्रम में पहले डेढ़ घंटा रोज स्वरज्ञान कराया जाता था। उन दिनों 'काफी ठाठ' किनारे हट गया था और शुद्ध सप्तक का बिलावल ठाठ प्रचलित हो गया था। इसी बिलावल ठाठ को आधारभूत बनाकर पहले उसके स्वर और पलटे घुटवाने का उपक्रम चलता था। उसके पीछे स्वरों के उलट-पुलट क्रम से स्वरज्ञान को दृढ़मूल कराया जाता। फिर उसमें अलग अलग विकृत स्वरों का अभ्यास करवाकर बारह स्वरों का संपूर्ण ज्ञान छात्र को कराया जाता। इस प्रकार के पहले पहले पाठों को 'कर्ण संस्कार' (ear training) का नाम दिया गया था। यह स्वरज्ञान दो तरीकों से होता था– एक, हमने गाया और आपने उन स्वरों को पहचाना और दूसरे, आपने गाया उसके स्वरों को हमने पहचाना। इसमें उद्देश्य यह रहता था कि मैं क्या गा रहा हूं, यह मुझे मालूम होना चाहिए। इन दोनों तरीकों के कारण कान भली प्रकार तैयार हो जाते थे।

अब समयचक्र के बारे में बताएं तो कॉलेज का समय ३ से ८ तक रहता था। यही समय इसलिए रखा था कि जो नौकरी वगैरह नहीं करते थे और केवल संगीत सीखना चाहते थे, वे उस समय आ सकते थे। फिर संध्या को साढ़े पांच-छः तक का समय नौकरी-पेशा लोगों के लिए सुविधाजनक हो जाता था। अब जैसा मैंने बताया, प्रथम वर्ष में दस ठाठों में आनेवाले रागों की शिक्षा दी जाती थी। फिर दूसरे वर्ष वे ही राग विस्तृत रूप में सिखाए जाते। उसमें स्वरमालिका, लक्षणगीत, एक विलंबित ख्याल, एक द्रुत ख्याल, एक तराना, एक ध्रुपद और एक धमार इस क्रम से औसत विद्यार्थी को एक राग में जितना ज्ञान आवश्यक हो सकता था, उतना कराया जाता था। फिर आगे चलकर छात्र इसी आधार पर दूसरे रागों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता था। इस दूसरे वर्ष में उन्हीं दस रागों को बंदिशों के माध्यम से हृदयंगम कराया जाता था। तीसरे वर्ष में उन ठाठों में से ही और १५ राग सिखाए जाते थे। जैसे कि छात्र ने यमन सीखा है, अब उसे भूपाली सिखाओ। इससे कल्याण ठाठ में पांच स्वरों का भूपाली राग कैसा रूप दिखाता है इसका परिज्ञान हो जाता था। फिर इस ठाठ से निकले हुए दस-पंद्रह राग- हमीर, केदार, बिहाग, और बाद में बागेश्री, भीमपलासी, जौनपुरी, मालकंस, पिलू, तिलककामोद, देस आदि सिखाए जाते।

इस प्रणाली में तुलनात्मक अध्ययन की भी गुंजाइश रखी गई थी। जैसे, कालिंगड़ा, भैरव तो सीख लिया, मगर भैरव को कालिंगड़ा से अलग किस तरह करोगे? इसके सिवा बुनियादी राग पहले सिखाना और उनसे निष्पन्न होनेवाले राग तत्पश्चात् सिखाना- इस तरीके को भी अपनाया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहां संगीत की शिक्षा में प्रत्येक स्वर और स्वरांतरों की नींव सुदृढ़ करने पर ध्यान दिया गया था। स्वर लगाने का अभ्यास राग के हिसाब से करने पर ही संतोष नहीं माना गया था, बल्कि यह अपेक्षा रखी जाती थी कि एक ठाठ के बाद तुरंत किसी दूसरे ठाठ के स्वर लगाने में आवश्यक जितना स्वरज्ञान पर्याप्त मात्रा में हो जाना चाहिए। जैसे, पंचम तक मारवा गाओ, फिर उसके बाद भैरवी गाओ और बिलावल पर उतरो– इस प्रकार के पाठ करवाए जाते। मतलब यह कि स्वरज्ञान की शिक्षा में तोतारटंत को स्थान न देकर समझकर गाने पर बल दिया गया था। पं. भातखंडेजी ने पाठ्यक्रम तो बनाया,

किंतु उसका सही रूप में कार्यान्वयन अण्णासाहब के द्वारा ही हुआ। वे अपने गुरु की दृष्टि एवं अपेक्षाओं को आंतरिक रूप से जानते थे। इसलिए यह पाठ्यक्रम मैरिस कॉलेज में सुचारु रूप से कार्यान्वित हो सका।

क्रमविकास-पद्धति

प्राथमिक अवस्था में तो स्वरज्ञान पर ही जोर दिया जाता था। सिर्फ अलंकारों के लिए आरोह-अवरोह बताए जाते थे। पाठ्यक्रम में जितने पारिभाषिक शब्द आते थे उनका परिचय कराया जाता था। उदा. स्वरों के बारे में अचल, चल, विकृत, कोमल, तीव्र इत्यादि। तालज्ञान की शिक्षा इस प्रकार दी जाती थी कि सीखनेवाला ऊब न जाए। हरेक राग में दो-दो गीत सिखाए जाते थे और वहां ताल का संबंध आता था। बंदिशोंद्वारा ताल का ज्ञान अपने आप हो जाता था। लय को सिखाने का भी एक तरीका था। पहले आघात से लय सिखाते थे और बाद में आघात को बंद कर के समलय में जाने का अभ्यास करवाते थे। इसमें आघात पर बल देकर बंदिश और ताल का मेल बिठाने का अभ्यास होता था। अलग अलग तालों में गीत भी थे। शुरू में त्रिताल, झपताल, चौताल, दादरा, कहरवा आदि प्राथमिक वर्ष में पढ़ाए जाते थे। फिर दूसरे वर्ष में विलंबित ताल उसमें जोड़ दिए जाते थे। इसमें ध्रुपद-धमार के गायन का सहारा लिया जाता था। फिर छोटे छोटे आलापों से विस्तार करके सम पर आने का ढंग सिखाया जाता था।

तीसरे वर्ष में और अधिक प्रगत स्तर की गायकी दिखाई जाती थी। मगर छात्रों को दृष्टि दी जाती थी पीछे मुड़कर देखने के लिए। जो बातें प्रथम कक्षाओं में सिखाई जातीं उनका अनुप्रयोग पुराने सीखे हुए रागों में करवाया जाता था।

इन सब बातोंसे यह प्रतीत होता है कि इस पूरे पाठ्यक्रम को अध्यापनशास्त्र के आधार पर बनाया गया है, जब उस जमाने में अध्यापनशास्त्र जैसी संकल्पनाएं उतनी उभरी भी नहीं थीं। यह सब पंडित भातखंडेसाहब की मर्मग्राही दृष्टि, स्वयंसिद्ध ज्ञान और गहरी लगन का परिणाम था। उनके सामने ध्येय था हिंदुस्तानी रागदारी संगीत पर सौंदर्यात्मक तरीके से ज्ञान और व्यवहार के स्तर पर पकड़ पा सकनेवाले सुविद्य गायकों और श्रोताओं को तैयार करने का। इसलिए जो प्रणाली उन्होंने अपनाई उसमें सरल से कठिन की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर आदि शैक्षणिक तत्त्वों का परिपालन अपने आप हो सका। इसीका भलाभांति अनुसरण अण्णासाहब ने आगे किया। बात यह थी कि पंडित भातखंडेजी के तीन अंतरंग शिष्य थे– वाड़ीलाल शिवराम, शंकरराव कर्नाड़ और हमारे अण्णासाहब। मानो ये उनके सिपाही थे। जो कुछ काम कॉलेज के माहौल में चलता था, ये सब उसमें शामिल हो जाते थे। वाड़ीलाल जी ने तो सैकड़ों बंदिशें अन्यान्य उस्तादों से इकट्ठा की थीं। पंडितजी ने पाठ्यक्रम में उन रचनाओं को भी समाविष्ट कर लिया। अब बड़ौदा में रहने के सिलसिले में अण्णासाहब के पास भी अनेक बंदिशों का संग्रह हो गया था। उन्हें भी यहां लिया गया। इसी प्रकार पं. राजाभैया पूछवाले ने भी अपने संग्रह से जो बंदिशें पंडितजी को दी थीं और जिनमें बहुत-सी पहले ही उनके पास थीं उनको भी स्थान मिला। इस तरह पाठ्यक्रम को संपन्न बनाने में इन प्रमुख शिष्यों और राजाभैया जैसे पंडितों का काफी योगदान रहा।

यहां कुछ विषयांतर के तौर पर ही सही किंतु ग्वालियर के माधव म्यूजिक कॉलेज के बारे

में बताना जरूरी है, क्योंकि यह कॉलेज लखनऊ कॉलेज से पूर्व १९१८ में खुला था। ग्वालियर के महाराजा माधवराव सिंदिया को संगीत से बड़ा लगाव था। उन्होंने अपने बंबई निवास में पंडितजी के कार्य की प्रशंसा सुनी और स्वयं उनकी संगीत-कक्षाओं में वेषांतर करके वे उपस्थित हुए। वहां पर पंडितजी की सुविहित अध्यापन-प्रणाली देखकर वे अत्यंत प्रभावित हुए और उन्हींके परामर्श पर अपनी रियासत में संगीत का विद्यालय स्थापित कर दिया। इस सिलसिले में पंडितजी ने महाराजा को एक अत्यंत महत्वपूर्ण सलाह दी कि ग्वालियर में ग्वालियर घराने की ही गायकी चलनी चाहिए, पाठ्यक्रम भले ही एक-सा हो। और यही तो पंडितजी की विशेषता थी। अण्णासाहब भी उसी मार्ग पर चलते रहे और उनकी शिष्य-परंपरा भी उसीका अनुसरण कर रही है। पंडितजी ने यह भी सलाह दी कि यहां ग्वालियर घराने के शिक्षकों को ही नियुक्त किया जाए। उन्होंने स्वयं ऐसे कुछ सात ज्येष्ठ और कुछ सामान्य अध्यापकों को चुना। उनमें राजाभैया पूछवाले, खंडेपारकर आदि प्रमुख थे। लखनऊ के मैरिस कॉलेज की स्थिति इससे भिन्न थी। इस कॉलेज का कॅनवास अधिक व्यापक और उदार था। हम कह सकते हैं कि मैरिस म्यूजिक कॉलेज की बदौलत लखनऊ शहर संगीत की कर्मभूमि बन गया। यह सच है कि मैरिस कॉलेज का कार्यकेंद्र बहुत अरसे तक लखनऊ ही रहा। उसकी शाखाएं कुछ समय बाद खुलीं। विष्णु दिगंबर जी का कार्य बहुत पहले शुरू हो चुका था। हमारे कॉलेज के लिए जब संलग्न संस्थाएं बनीं तब इसका भी प्रसार-कार्य शुरू हुआ। उस समय कॉलेज में संगीत-शिक्षा पाने के लिए श्रीलंका और बर्मा से भी छात्र आते थे। फिर सन १९३९-४० में जब यहां विद्यापीठ कायम हुआ तब कॉलेज की कीर्ति दूर दूर तक फैल गई। उस जमाने में तो कॉलेज में ५५० तक छात्रसंख्या थी। तब अण्णासाहब ने हम 'एडवान्स्ड' शिष्यों को एकेक दो-दो कक्षाओं को सिखाने के लिए नियुक्त किया। चरित्रगठन, व्यक्तित्व विकास आदि के लिए भी कॉलेज में कई उपक्रम चलाए जाते थे। समय समय पर गोष्ठियां आयोजित होती थीं। अण्णासाहब ने हम कुछ शिष्यों को भाषण देने का भी अवसर दिलाया जैसे, भातखंडे पुण्यतिथि हो या ऐसे और प्रोग्राम हों, उसमें बोलने के लिए हम आगे आते थे। कक्षा में तो हमें विषय को समझाना ही पड़ता था। संपूर्ण कॉलेज में एक पवित्र पारिवारिक वातावरण बना हुआ रहता था, जिसमें 'साधना' को सर्वाधिक प्राधान्य दिया जाता था। यह सब अण्णासाहब के प्रभावशाली व्यक्तित्व का सुफल था।

परीक्षाओं का स्वरूप

परीक्षाओं के नाम और उनकी मान्यता के बारे में बताना हो तो शुरू में प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ष की परीक्षाएं रहती थीं। उनके लिए कोई नाम नहीं था। फिर मध्यमा याने इंटरमिजिएट सर्टिफिकेट और पांचवें वर्ष में विशारद ऐसी उपाधियां दी जाती थीं। वस्तुत: उन्हें 'डिग्रियां' नहीं कह सकते। क्योंकि यह संस्था कानून की धारा के तहत प्रस्थापित नहीं हुई थी। उसका स्वरूप गांधर्व महाविद्यालय की तरह मानी हुई (deemed) यूनिवर्सिटी की तरह था, जो आज भी डिग्रियां नहीं देता है। उन्हें सिर्फ 'डिग्री के समान' माना जाता है। लखनऊ मैरिस कॉलेज की भी अद्यावधि यही स्थिति है।

मैरिस कॉलेज के पाठ्यक्रम, परीक्षा, शिक्षा-प्रणाली आदि की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस संस्था का उद्देश्य प्रचारकेंद्रित नहीं था बल्कि ज्ञानकेंद्रित था। यहां पढ़नेवालों को संगीत

जिन्ना हॉल, बम्बई में आयोजित संगीत सम्मेलन में उपस्थित दिग्गज गायक-वादक कलाकारों की बिरादरी में
आचार्य रातंजनकरजी। (१९३५)। छायाचित्र में सामने खड़े कुछ प्रमुख कलाकारों में
उ. अज़मत हुसैन खां, पं. रातंजनकर, उ. गुलाम रसूल खां, उ. मंजीखां, उ. अल्लादिया खां, उ. फैयाज़ हुसैन खां,
उ. विलायतहुसैन खां, उ. अब्दुल करीम खां आदि। (संगीत महाभारती, बम्बई के सौजन्य से प्राप्त)

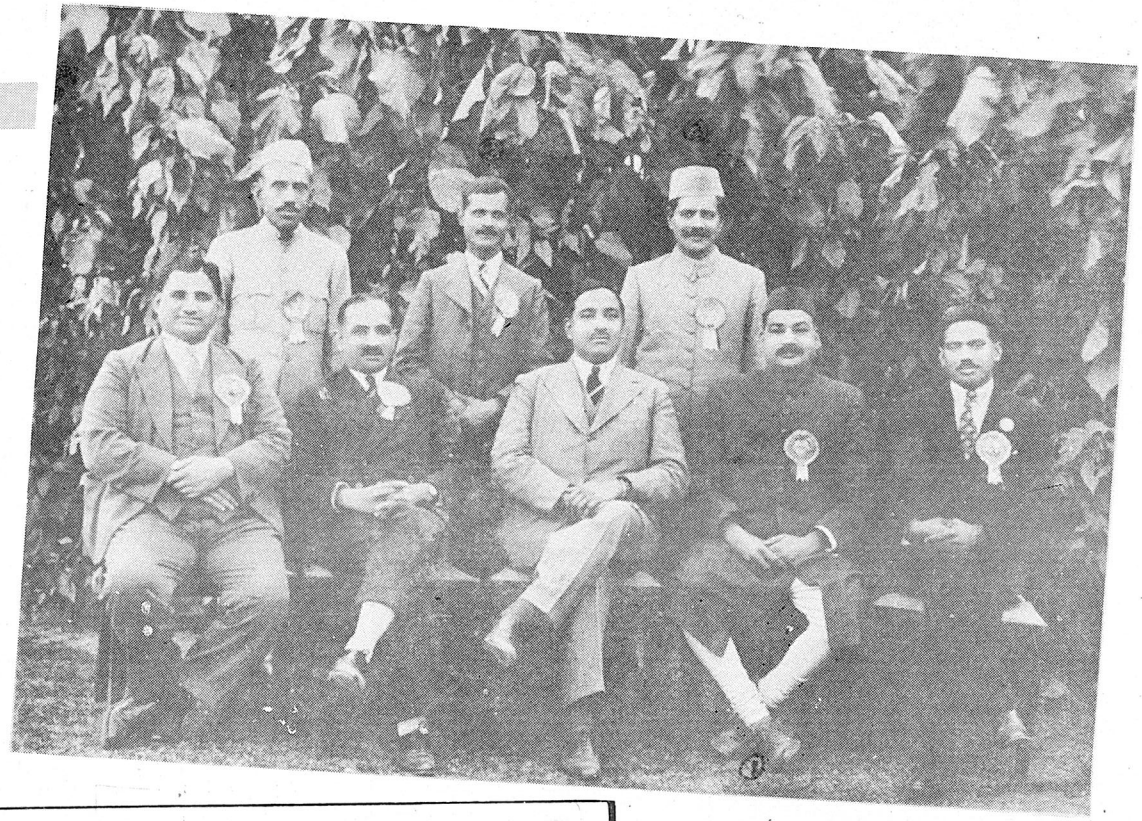

नवम आखिल भारतीय सम्मेलन के सदस्यगण (दाहिने, कुर्सीपर क्र. २) राय उमानाथ बली
(पीछे खड़े, दाहिने से क्र.१) ठाकुर जयदेव सिंह, क्र. २ डॉ. रातंजनकर

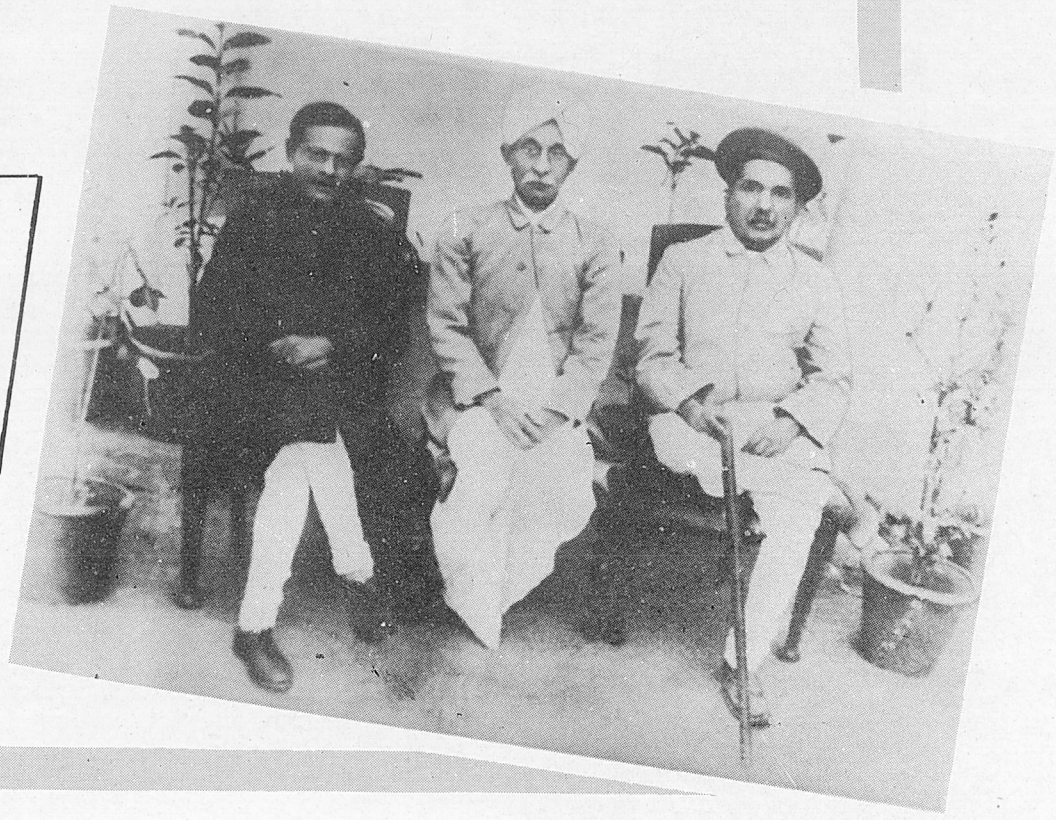

पं. भातखंडेसाहब के शिष्योत्तमत्रय
सर्वश्री रातंजनकर, वाडीलाल शिवराम,
राजाभैय्या पूछवाले

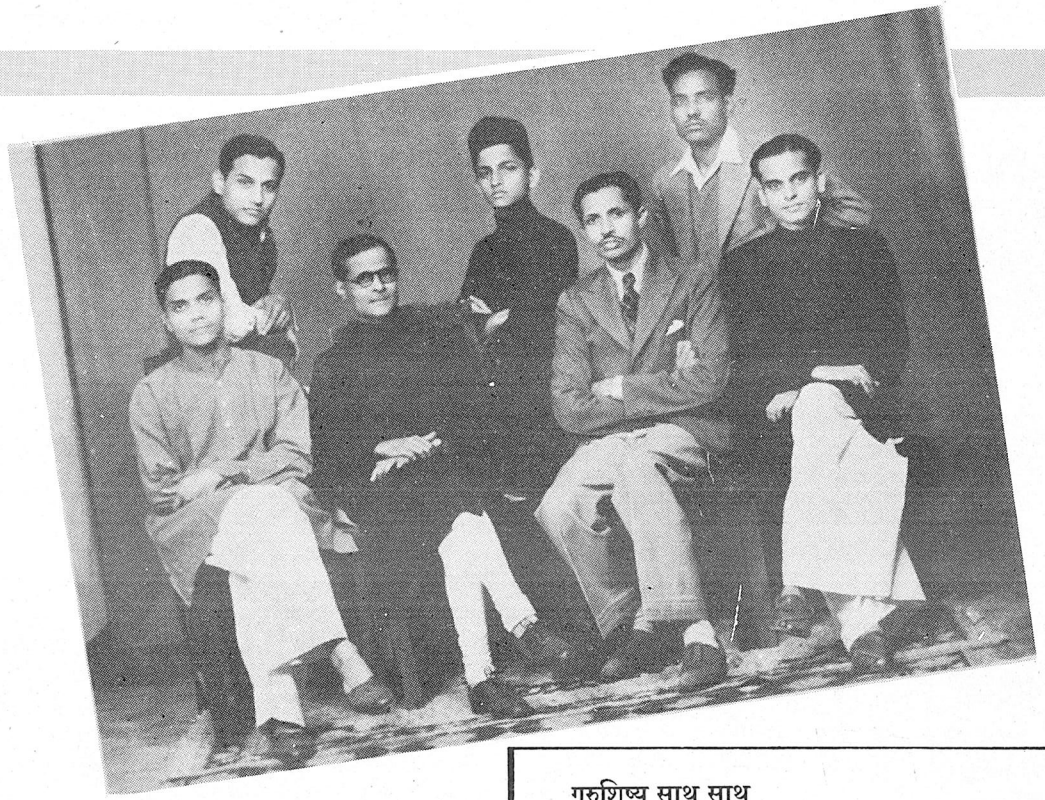

गुरुशिष्य साथ साथ
बैठे हुए (बाएं से) एस्. सी. आर. भट, पं. अण्णासाहब रातंजनकर, जी. एन. नातू,
मोहनराव कल्याणपुरकर; पीछे खड़े (बाएं से) के. जी. गिंडे, दिनकर कायकिणी, हजारीलाल

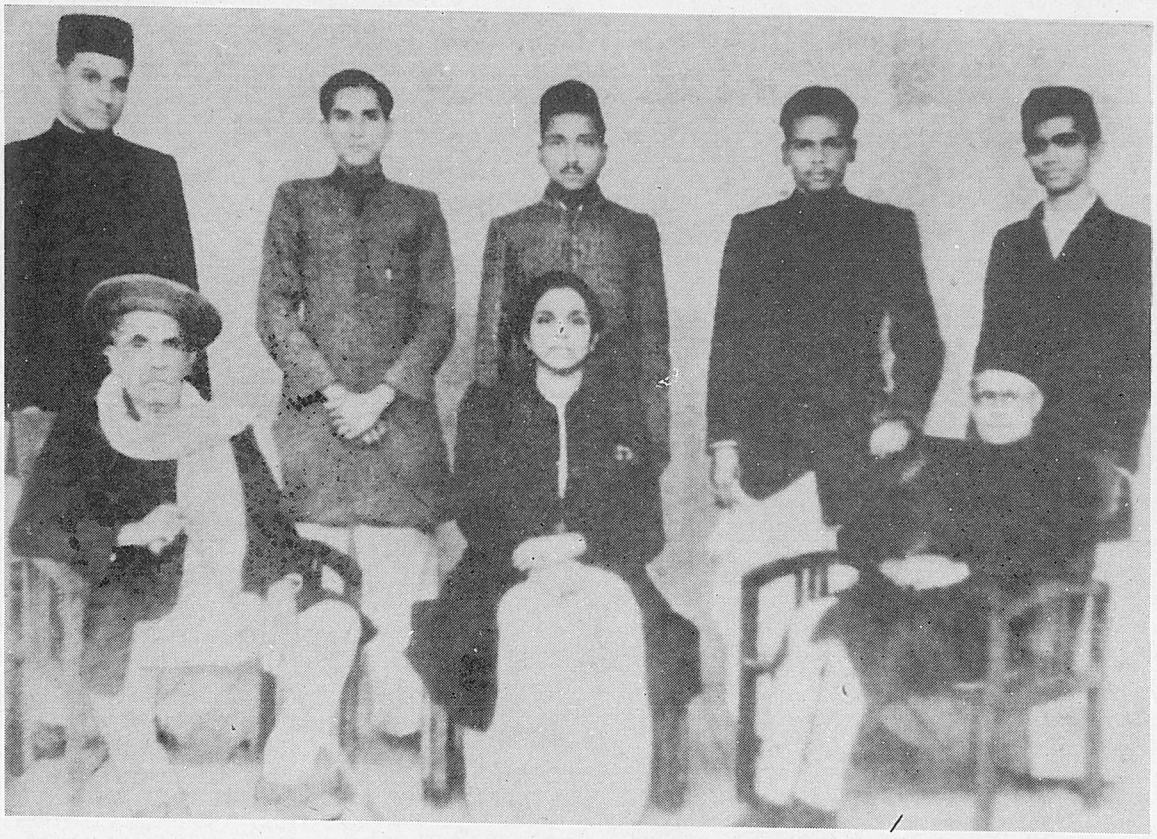

एक दुर्लभ क्षण : रातंजनकर ' निपुण ' छात्रों के साथ

बाएं से दाएं—

कुर्सियों पर : सर्वश्री (१) राजाभैय्या पूंछवाले (२) सुमति मुटाटकर (३) डॉ. श्रीकृष्ण रातंजनकर

खड़े : सर्वश्री (१) के. जी. गिंडे (२) प्र. ना. चिंचोरे (३) गो. ना. दंताळे (४) दाऊजी गोस्वामी (५) गजानन आयलवार.

'निपुण' की प्रथम परीक्षा : पं. रातंजनकर मान्यवर परीक्षकों एवं चंद शिक्षकों के साथ

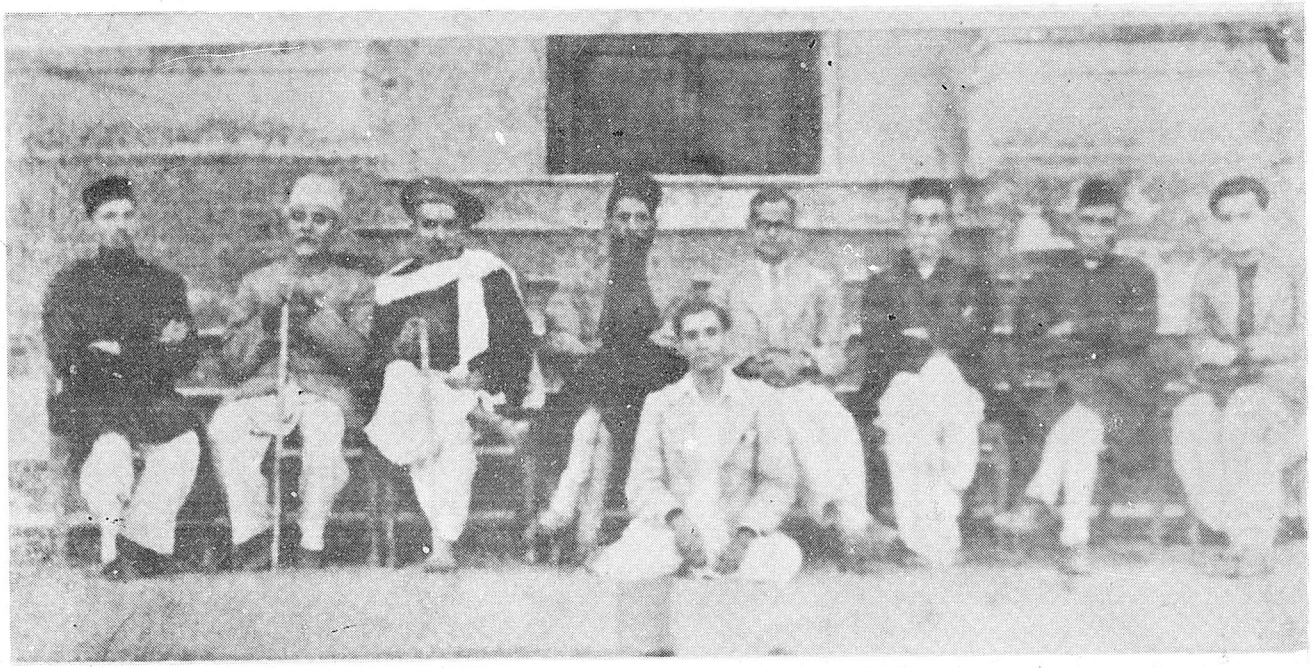

फर्श पर- प्रभाकर चिंचोरे (परीक्षार्थी)

बाएं से दाएं कुर्सियोंपर— 'निपुण' की प्रथम परीक्षा : पं. रातंजनकर मान्यवर परीक्षकों एवं चंद शिक्षकों के साथ

सर्वश्री (१) प्रो. गो. ना. नातू (२) उस्ताद अलाउद्दीन खां (३) पं. राजाभैय्या पूंछवाले (४) उस्ताद मुश्ताक हुसैन खां

(५) डॉ. श्रीकृष्ण रातंजनकर (६) पं. वाडीलाल शिवराम (७) पं. सखाराम (८) प्रो. विष्णु जोग

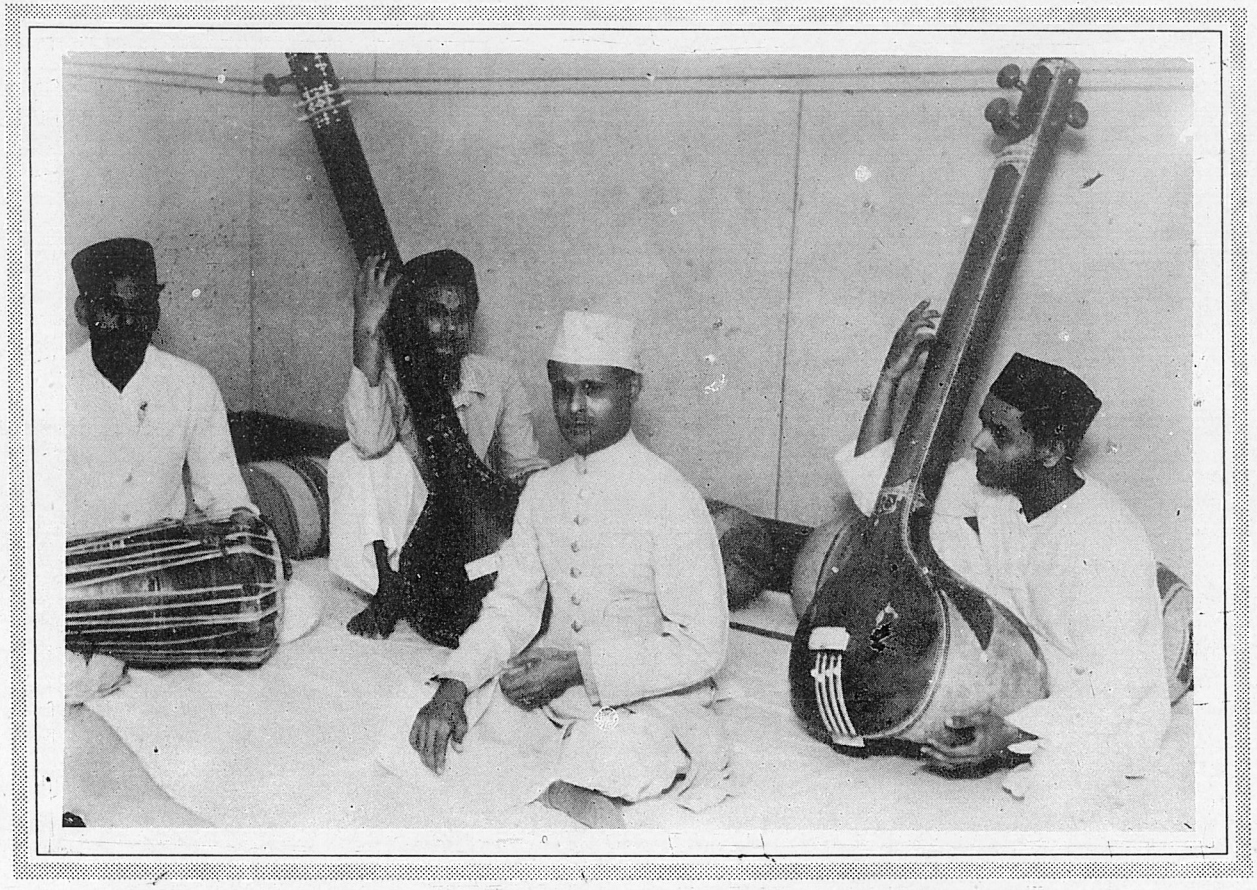

आचार्य रातंजनकरजी आकाशवाणी लखनऊ केन्द्र से भैरवी में आलाप एवं होरी-धमार प्रस्तुत करते हुए। (१९४१-४२);
पखवाज पर पं. हजारीलाल और तानपुरों पर पं. के. जी. गिण्डे तथा पं. एस्.सी. आर. भट

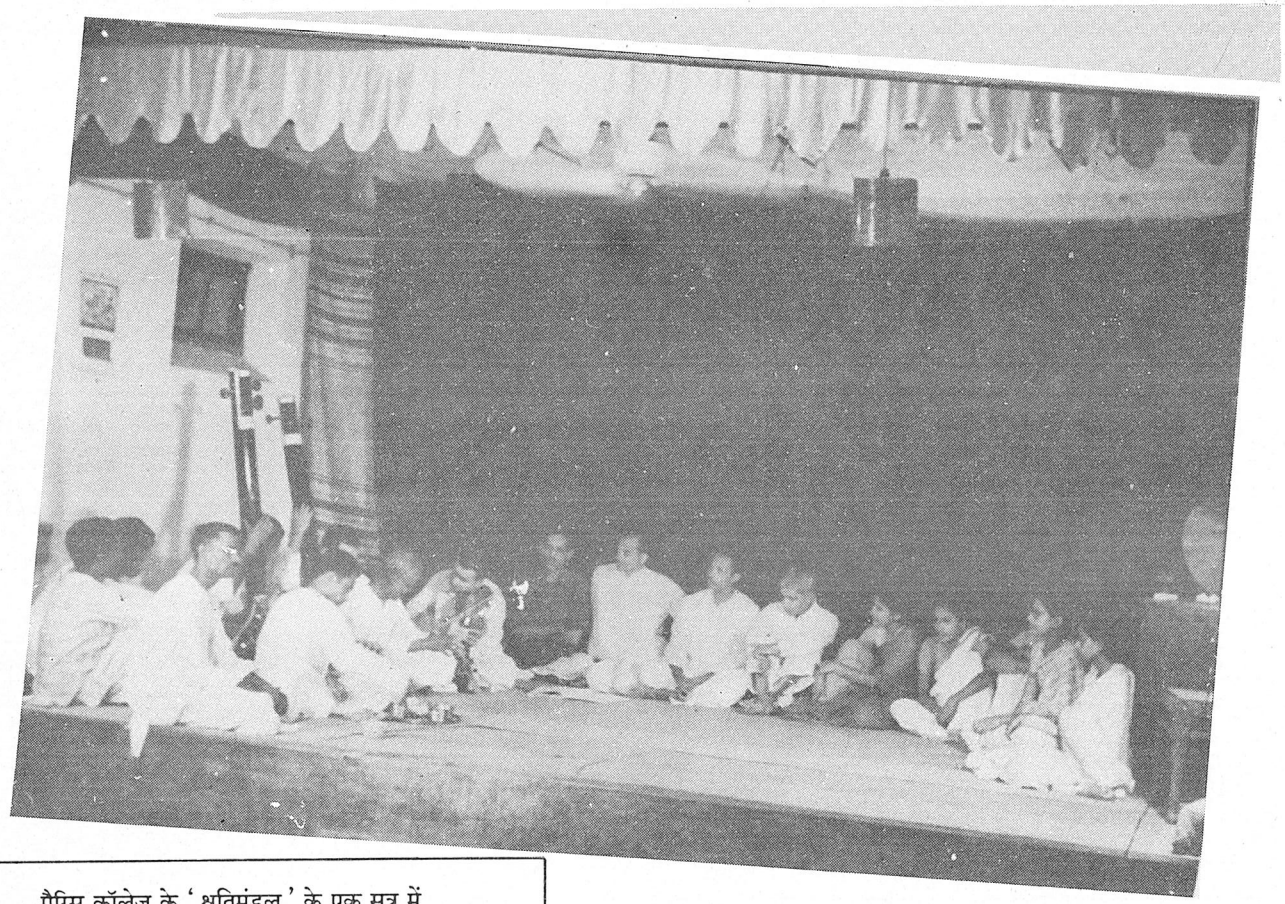

मैरिस कॉलेज के 'श्रुतिमंडल' के एक सत्र में
पं. रातंजनकर जी का गायन (१९४८-४९)

Sitar Nawaz HamidHussain Khan

Ustad Bundu Khan - the superb
Sarangi maestro a great admier of
Pdt. Bhatkhande, and a visitor of the College

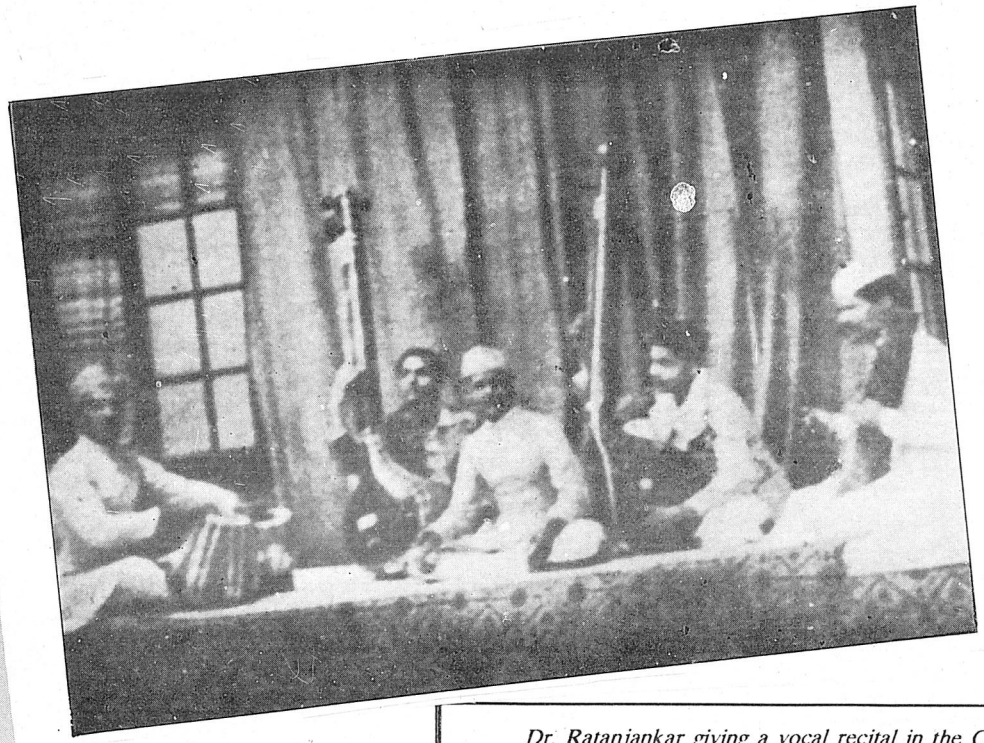

Dr. Ratanjankar giving a vocal recital in the College accompanied on the Sarangi by Mirza Mahmood Ali, on the Tabla by Sadashiv (son of Pdt. Sakharamji), and vocal support by S.A. Mahadkar and S.C.R. Bhat.

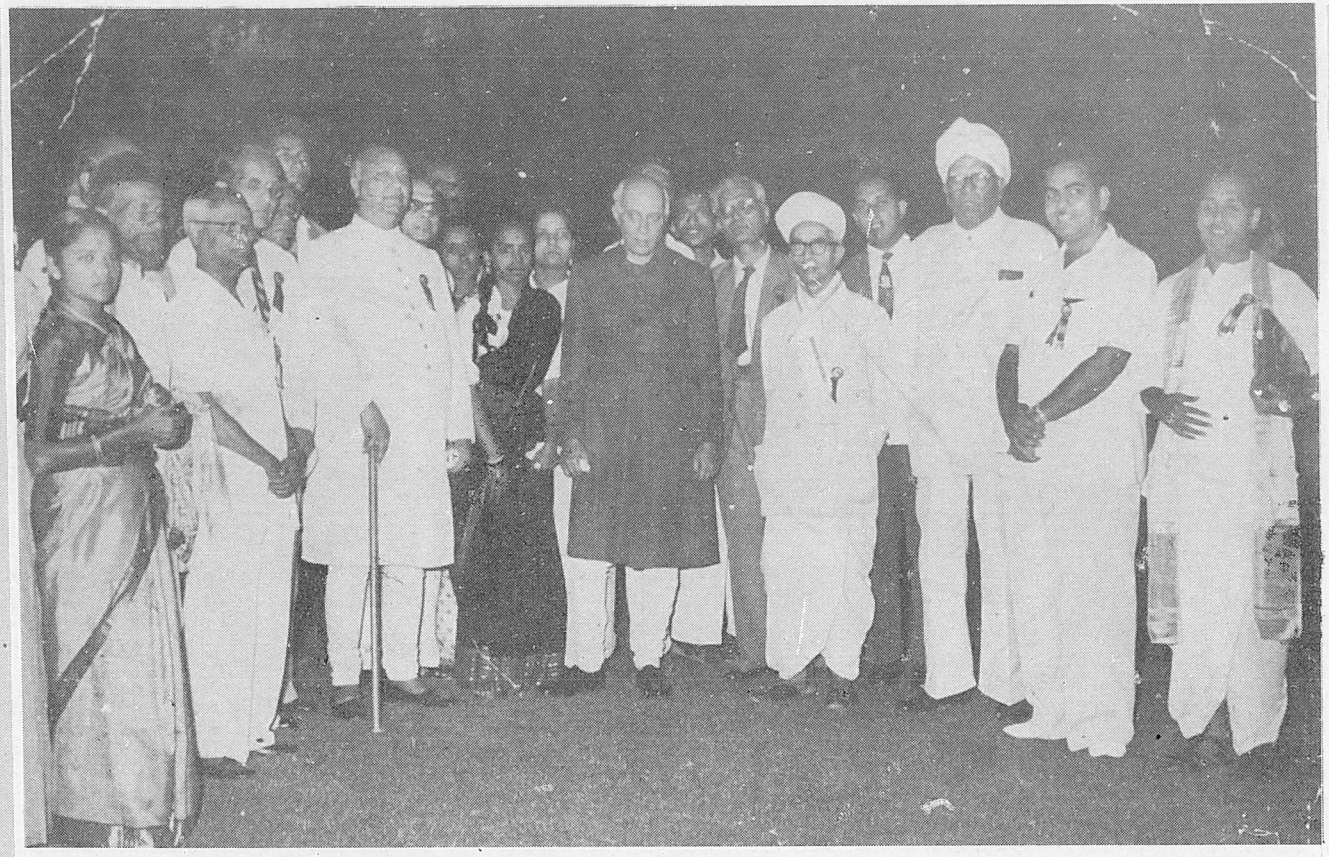

संगीत नाटक अकादमी नई दिल्ली के एक कार्यक्रम में—
कलाकारों के समवेत पं. जवाहरलाल नेहरू (बाएं से दूसरे क्रमांक पर) उ. मुश्ताक हुसेन, (तीसरे) पं. रातंजनकर

संगीत नाटक अकादमी में गण्यमान्यों की चरणधूलि
पं.रातंजनकर, पं. हक्सर, जस्टिस टी. एल. वेंकटराम अय्यर, श्रीमती रुक्मिणीदेवी अरुंडेल,
प्रो. पी. सांबमूर्ति...

संगीत नाटक अकादमी (दिल्ली) सलाहकार समिति —
प्रधानमंत्री पं. नेहरू के समवेत - उ. मुश्ताक हुसेन, श्रीमती निर्मला जोशी, पं. रातंजनकर, न्यायमूर्ति राजमन्नार (उनके पीछे की तरफ)श्री वामनराव देशपांडे, श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय, प्रो. बी. आर. देवधर, प्रो. सांबमूर्ति, न्यायमूर्ति वेंकटराम अय्यर.

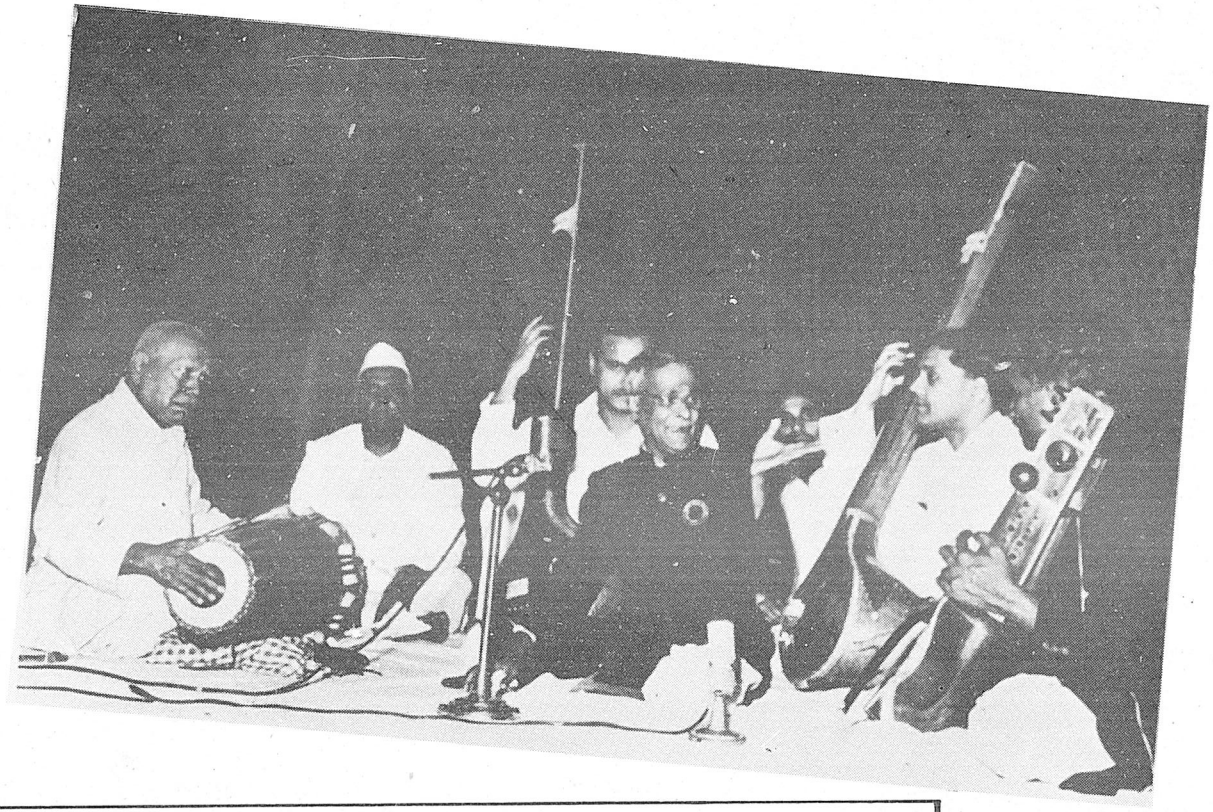

संगीत नाटक अकादमी दिल्ली ' ध्रुपद-धमार ' पेश करते हुए अपनी उपज पर प्रसन्न आचार्यजी (पखावज) पं. गोविंदराव बऱ्हानपुरकर, (तानपूरा)-पं. गिंडे और पं. एस.सी.आर. भट

आकाशवाणी लखनऊ उद्घाटन २ अप्रैल १९३९ के अवसर पर सजी हुई महफिल में गाते हुए (वायोलिन)
पं. वी. जी. जोग

एक तरुणाई मुद्रा

ऐसी निर्व्याज प्रसन्नता !

Bhatkhande Sraddhanjali Programme from the Lucknow Station of All India Radio presented by Principal Ratanjankar, members of the/teaching staff, and students from many provinces. Among the staff may be seen Pdt. G.N. Natu, Pdt. Sakharam, Sri. Jog, Sri. Umar Khan, Sri. Mohammad Ali, Sri. S.N. Bali, Sri. Sadashiv and others.

के विषय में अधिक गहराई तक ले जाने की दृष्टि रखी गई थी। हम लोग - एस्.सी.आर. भट, में खुद वगैरह - वहीं पर पढ़े हुए हैं। इस कॉलेज से स्नातक बनकर निकले हुए बहुत से छात्रों ने संगीत के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। पं. चिन्मय लाहिरी, रोशनलाल जैसे संगीत-निर्देशक, ठुमरी पर कार्य करनेवाले शत्रुघ्न सिन्हा, डॉ. सुमति मुटाटकर जैसी संगीत विदुषी ऐसे अनेक नाम बताए जा सकते हैं। तलत महमूदजी ने हमारे एस.सी.आर. भटजी से तालीम ली है। यह सब उस महाविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली का, वहां के विशुद्ध संगीतमय वातावरण का और अण्णासाहब की गहन शैक्षणिक दृष्टि का सुफल था। अण्णासाहब के मन में यहां तक था कि विशारद तक एक सामान्य पाठ्यक्रम रखा जाए और उसके बाद जिसकी आवाज जिस पद्धति के लिए अनुकूल हो उसके अनुसार उसे अपना विकास करने दिया जाए। जैसे, जिसकी आवाज धीरगंभीर और ओजपूर्ण है उसे ध्रुपद धमार गायकी सिखाई जाए। जिसकी आवाज पतली है, भावुकता से भरी है उसे ठुमरी गायन सिखाया जाए। परंतु आर्थिक बाधाओं के कारण यह विचार साकार नहीं हो सका।

बहुआयामी कार्य

कॉलेज के प्रदीर्घ कार्यकाल में संगीत की दृष्टि से अण्णासाहब का कार्य बहुआयामी रहा। विभिन्न दायित्वों को उन्होंने अत्यंत गरिमा और ध्येयवादिता के साथ निभाया। संगीत के अध्यापक और प्रशिक्षक के रूप में तो आठों प्रहर छात्रों के लिए आप सदैव उपलब्ध रहते। जब जब अवसर मिले वे प्रात्यक्षिक के साथ संगीत की बारीकियों को समझा देते। महाविद्यालयों और विद्यालयों के पाठ्यक्रम बनाने के लिए उन्हें जगह जगह से निमंत्रित किया जाता। उसमें मैट्रिक्युलेशन से लेकर पीएच्.डी. तक की संगीतविषयक परीक्षाओं का अंतर्भाव रहता। तत्कालीन संयुक्त प्रांत एवं राजपूताना के विद्यालयों तथा इंटरमीजिएट पाठ्यक्रम के अध्ययन मंडल (बोर्डस्) तथा अलाहाबाद, आगरा, बनारस, राजपूताना, पंजाब, जम्मू-काश्मीर, नागपुर, बड़ौदा, बंबई, कलकत्ता, मद्रास और ग्वालियर का माधव म्यूझिक कॉलेज इत्यादि सभी को अण्णासाहब के मूल्यवान परामर्श की आवश्यकता रहती थी। इसी प्रकार अन्यान्य संगीत-परिषदों, संगोष्ठियों, परिचर्चाओं आदि में अण्णासाहब का निरंतर सक्रिय सहभाग रहता और जहां जहां अवसर मिलता वे संगीत के किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर अपना अभिनव प्रपत्र अवश्य प्रस्तुत करते। परवर्ती काल में आप दिल्ली की संगीत नाटक अकैडमी की कार्यकारिणी में उत्तर प्रदेश के प्रतिनिधि सदस्य भी बने। इन सभी कार्यकलापों के दौरान भी उनकी व्यक्तिगत संगीत-साधना, संगीत-चिंतन, बंदिशों की रचना, ग्रंथों का निर्माण इत्यादि कार्य भी चलता ही रहता। इन सब बातों से पता चलता है कि अण्णासाहब किस प्रकार उत्तर भारत के संगीत जगत् पर एक तरह से छा गए थे और अपनी विद्वत्ता एवं कार्यकुशलता के कारण दिखावटी नहीं बल्कि वास्तविक सम्मान के अधिकारी हो गए थे। अपने इस यश का श्रेय वे हमेशा अपने पथप्रदर्शक गुरुवर पं. भातखंडेजी को देते। अण्णासाहब के नाम के लिए किसी भी कोने से विरोधी स्वर प्रकट नहीं होता था। ऐसा नहीं कि केवल पढ़-लिखे बाबू वर्ग में ही वे सम्मान के अधिकारी थे, बल्कि व्यावसायिक महफिलों के उस्ताद और पंडित भी उनकी कला की दाद देते थे। गुरुवर हमें कभी बताया करते—

"यह स्थान मुझे क्यों मिला है जानते हो? मेरे गुरु वास्तव में 'चतुर पंडित' थे। उन्होंने

सोच समझकर ही मुझे फैयाजखांसाहब का गंडा बंधवाया था। अगर मैं खांसाहब का शागिर्द न होता तो मुझे इतनी मान्यता न मिलती। इसमें उनकी दूर दृष्टि थी।''

लखनऊ में अण्णासाहब के निकट संपर्क में रहते हुए मैंने यह बराबर अनुभव किया है कि कोई भी गायक, वादक या नर्तक लखनऊ आया हो और अण्णासाहब से भेंट किए बिना लौटा हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। महाराष्ट्र के विख्यात ग्वालियर गायक पं. रामकृष्णबुवा वझे का उदाहरण बताता हूं। बुवासाहब को इच्छा हुई कि मृत्यु के पूर्व अपने गुरु के स्थान के दर्शन कर आऊं। साथ साथ काशीयात्रा भी उन्हें करनी थी। बुवासाहब अपने गुरुघर ग्वालियर पहुंचे। वहां कृष्णराव पंडितजी से मिले। आगे रेल से काशी जाते समय गाड़ी लखनऊ स्टेशन पर रुकी। बुवासाहब झट से उतर गए और तांगे में बैठकर सीधे कैसरबाग पहुंचे। उस वक्त हमारी क्लास चल रही थी। मैं, भट हम सब बैठे थे। अण्णासाहब खिड़की की ओर मुखातिब नहीं थे, लेकिन हमारे भटसाहब ने बुवासाहब को पहचान लिया। उन्होंने अण्णासाहब को बताया वे झट से उठे, बुवासाहब की अगवानी की। पूछा कि कैसे आना हुआ? इसपर बुवा बोले,

''ग्वालियर तक आया था। सोचा कि हमारा कृष्णा यहां होगा, तो उससे मिलकर जाना चाहिए, कौन कहे, आगे भेंट होगी या नहीं!'' फिर कुछ जलपान लेकर बुवासाहब स्टेशन चल पड़े और आगे काशी के लिए रवाना हुए। कहने का तात्पर्य यह कि केवल हमारे अण्णासाहब से भेंट करने के लिए वे, चंद घंटे के लिए ही सही लखनऊ आए। वस्तुत: वहां उनका कोई काम नहीं था।

इस प्रकार लखनऊ का स्थान भारतभर के मान्यवर कलाकारों के आकर्षण का एक केंद्र बना हुआ था। उस काल श्रीमती गंगूबाई हनगल यहां कई बार आ चुकी थीं। पं. विनायकराव पटवर्धन, नारायणराव व्यास भी आते। कानपुर के पं. शंकरराव बोड़स जब भी लखनऊ आते हमारे साथ ही ठहरते। कर्नाटक के गायक पं. गुरुराव देशपांडे धारवाड़ से रेडियो प्रोग्राम के लिए आए थे, वे भी हमारे साथ ही ठहरे थे। महाविद्यालय के अधिष्ठान और अण्णासाहब के व्यक्तित्व की इतनी मान्यता थी कि उस्ताद अल्लाउद्दिन खां, पं. रविशंकर, उ. मुश्ताक हुसैन खां, उ. रजबअलीखां जैसे धुरंदर कलाकार हमारी 'निपुण' की परीक्षा लेने पधारे थे। इसके पीछे रहस्य यह था कि मैरिस कॉलेज की संगीत शिक्षा का स्तर बहुत ऊंचा था। इसकी कसौटी परीक्षा के वक्त हो जाती। ये परीक्षाएं बहुत कसकर ली जाती थीं और छात्र गण उसका मुकाबला करने की स्थिति में रहते थे। इससे परीक्षक की हैसियत से आनेवाले महानुभावों को यहां के उच्च स्तर का परिचय मिलता और सहजभाव से वे इस बात का जिक्र बाहर किया करते कि लखनऊ में बहुत अच्छी तालीम दी जाती है।

कॉलेज के प्राचार्य के नाते अण्णासाहब का रहनसहन एकदम सादगी से भरा रहता। पहले उनके निवासस्थान को ही लें। कॉलेज का आज का महिला छात्रावास (होस्टेल) था उसके दो कमरों मे उनका कार्यालय और निवास दोनों की व्यवस्था थी। आगेवाले कमरे में कार्यालय था और उसके पीछेवाले कमरे में उनके सोने आदि की व्यवस्था थी। इसी लघुतम निवासस्थान में अण्णासाहब १९५६ तक रहे। डीमडौल नामकी कोई चीज उनके व्यक्तित्व में थी ही नहीं। न कपड़ों का शौक न कोई आदत या लत। उनके साथ उसी निवासस्थान में रहने का मुझे अवसर मिला था इसलिए मैं उन्हें अत्यंत निकटता से देख और समझ पाया। उसमें मैंने यही देखा कि हमारे गुरुवर अंतर्बाह्य सादगी और सरलता की मूर्ति थे। इसके संबंध में और बहुत

से अनुभव आगे जीवनी-कथन के सिलसिले में मालूम होंगे।

समय के साथ मैरिस कॉलेज की तरक्की और दिशाओं में होती रही। यह तो तब हुआ जब सन १९३९ में भातखंडे यूनिव्हर्सिटी ऑफ म्यूजिक की स्थापना हुई। जिसका रूपांतर आगे 'भातखंडे संगीत विद्यापीठ' में हुआ। वस्तुत: स्थानिक नेता राय उमानाथ बली मैरिस कॉलेज को एक 'परफॉर्मिंग फैकल्टी' के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय के साथ संलग्न करवाना चाहते थे। लेकिन कुछ तकनीकी बाधाओं की वजह से वह प्रयत्न विफल रहा। फिर भी भातखंडे संगीत विद्यापीठ की स्थापना अपने में एक महत्त्वपूर्ण घटना ही थी और उसके कारण अण्णासाहब के कार्यकर्तृत्व के और और जौहर प्रकट हुए। उस कहानी को सुनाएंगे अगले अध्याय में।

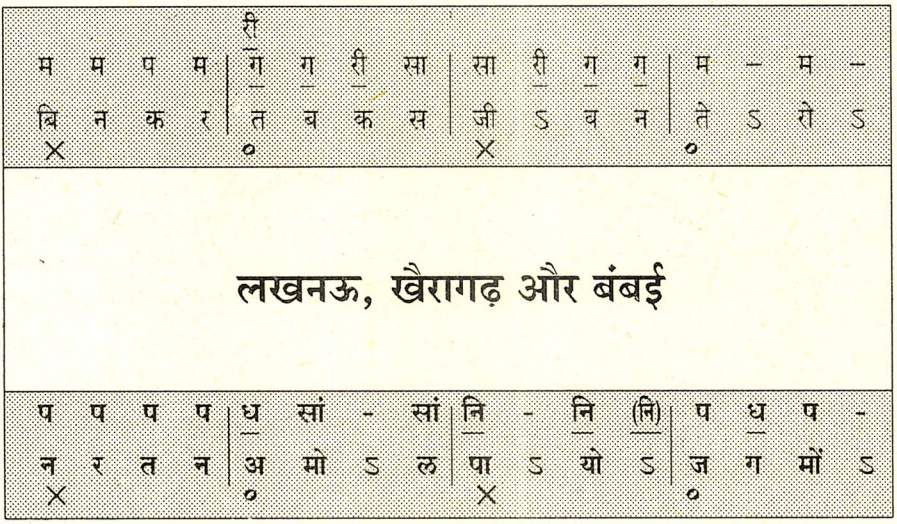

मैरिस म्यूजिक कॉलेज, लखनऊ की स्थापना संगीत शिक्षा एवं संगीत के पुनरुज्जीवन की दृष्टि से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। और उतनी ही महत्त्वपूर्ण घटना यह भी रही कि कॉलेज के आरंभ से ही अण्णासाहब रातंजनकर जैसे विद्वान और त्यागी संगीताचार्य के नेतृत्व का उसे लाभ मिला। इस समस्त आयोजन के पीछे राय उमानाथ बली और पं. विष्णु नारायण भातखंडे के अथक प्रयास थे। हमने यह देखा है कि पं. भातखंडेजी के मार्गदर्शनपर महाविद्यालय का पाठ्यक्रम, परीक्षा-प्रणाली आदि का आयोजन हो चुका था। १९३६ में पं. भातखंडेजी का देहावसान हुआ और उसके कुछ वर्ष बाद १९३९ में राय उमानाथ बलीने पंडितजी की स्मृति में भातखंडे युनिवर्सिटी ऑफ इंडियन म्युजिक की स्थापना करवाई जिसमें प्रधान नेतृत्व उन्हींका था। पहले तो रायसाहब ने लखनऊ विश्वविद्यालय और बनारस हिंदू युनिवर्सिटी के पास अपील की थी कि हमारे मैरिस कॉलेज को आप अपने तत्त्वावधान में स्वीकृत कर लें, किंतु उसमें सफलता नहीं मिली थी। कॉलेज की परीक्षाओं को किसी विद्यापीठ जैसी संस्था की मान्यता प्राप्त होना अत्यंत आवश्यक था, क्योंकि उसके बिना उन परीक्षाओं की व्यापक सामाजिक क्षेत्र में व्यावहारिक तौरपर उपादेयता स्वीकृत नहीं हो सकती थी। किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जो पाठ्यपुस्तकों का निर्धारण करे, परीक्षाओं का संचालन करे और इलाके की अन्य शिक्षण संस्थाओं को मान्यता प्रदान कर सके।

भातखंडे संगीत विद्यापीठ

परंतु भातखंडे यूनिवर्सिटी की स्थापना में कई कानूनी अड़चनें भी थीं। क्योंकि कोई संस्था युनिवर्सिटी या विश्वविद्यालय तभी कहला सकती है जब कानून की धारा या 'स्टैट्यूट' के द्वारा उसकी प्रतिष्ठापना की गई हो। इस दिशा में डॉ. संपूर्णानंद और डॉ. बालकृष्ण केसकर जैसे विधायकों का मार्गदर्शन बहुत लाभकर रहा। डॉ. संपूर्णानंद अक्सर काँग्रेस पार्टी के काम के लिए लखनऊ आया करते थे। १९३८-३९ में काँग्रेस की मिनिस्ट्री आ गई थी। उसमें डॉ.

संपूर्णानंदजी शिक्षणमंत्री थे। बीच में जागतिक महायुद्ध की वजह से उस मिनिस्ट्री का काम ठप हो गया और कुछ कालावधि के लिए 'लोकल सेल्फ गवर्मेंट' बनाई गई जिसमें संपूर्णानंदजी मुख्यमंत्री बने। उस काल डॉ. केसकर भी काँग्रेस पक्ष के कामकाज के सिलसिले में लखनऊ आते रहते थे। और जब जब लखनऊ आते कॉलेज में अवश्य झांकते। इसी दौरान राय उमानाथजी ने भातखंडे युनिवर्सिटी के बारे में आपसे परामर्श किया। आपने बताया कि आप इसे युनिवर्सिटी नहीं कह सकते। उन्होंने उदाहरण भी बताया कि जब 'बनारस हिंदू विश्वविद्यालय' बन गया तब उसी शहर में महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीप्रकाशजी के पिता बाबू भगवानदास की संस्था काशी विद्यापीठ के नाम से ही स्थापित हो सकी। नियमत: विश्वविद्यालय के लिए अधिक्षेत्र या 'जूरिसडिक्शन' की पाबंदी रहती है। अत: डॉ. केसकरजी के सुझाव पर 'भातखंडे संगीत विद्यापीठ' नाम मुकर्रर हो गया।

जब इस प्रकार स्नातकोत्तर कक्षाओं के संचालन की व्यवस्था हो गई तब उस परीक्षा के लिए 'संगीत-निपुण' नामाभिधान दिया गया, जैसे गांधर्व महाविद्यालय की स्नानकोत्तर उपाधि 'अलंकार' है। भातखंडे विद्यापीठ के सबसे पहले 'निपुण' उपाधिधारी हैं हमारे अण्णासाहब के एक प्रिय शिष्य प्रभाकर नारायण चिंचोरे। 'निपुण' की कक्षाएं शुरू होने से पहले अण्णासाहब ने कई शिष्यों को अप्रचलित राग, गुरुकुल पद्धति से सिखाए थे, जैसे एस.सी.आर. भट, चंद्रशेखर पंत, कालविंट आदि। तब उसे 'पोस्ट ग्रेजुएट क्लास' नहीं कहा जाता था, सिर्फ 'स्पेशल क्लास' करके पहचाना जाता था। 'निपुण' के लिए जो राग सिखाए जाते थे वे उस काल अधिक लोकप्रिय नहीं थे। पंडित जी की क्रमिक पुस्तक मालिका के प्रथम चार संग्रहों में उनका अंतर्भाव नहीं हुआ था। उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित संग्रहों में उन्हें समाविष्ट किया गया। ये बंदिशें भातखंडेजी ने उस्ताद मुहम्मद अलीखां से प्राप्त की थीं, तो उन्हें यही वचन देकर कि हम इन्हें छापेंगे नहीं। किंतु जब पंडितजी बीमार हो गए तब उनके अनेक चाहनेवालों ने उनसे अनुरोध किया कि आपने इतना सारा भंडार खोल दिया है तो इन्हें भी क्यों नहीं प्रकाशित करते। तब आपने यह काम वाड़ीलालजी और अण्णासाहब को सौंप दिया और आपके जीवनकाल में ही वह काम पूरा हुआ। इन पुस्तकों पर ग्रंथकार के नाते पं. विष्णु नारायण भातखंडे का नाम है और सहसंपादक के रूप में वाड़ीलाल और श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर का।

'निपुण' की स्तरीयता

'निपुण' की कक्षा स्वयं अण्णासाहब ही लेते थे। उसकी कोई शाखा अन्यत्र नहीं थी। जिन चुनिंदा शिष्यों को अण्णासाहब से यह खास तालीम मिली उनका आगे चलकर काफी नाम हुआ। इस कक्षा में अण्णासाहब प्रत्येक स्वर का लगाव, रागांग-तत्त्व, राग का चलन, महफिल में उसकी प्रस्तुति का ढंग इत्यादि बातों पर विशेष ध्यान देकर शिष्यों से वह सब करवा लेते थे। वैसे इन बातों पर उनका शुरू से ही ध्यान था। किंतु सामूहिक कक्षाओं में उनपर पूरी तरह अमल होना कठिन ही था। इसलिए बड़ी कक्षाओं के लिए उन्होंने दूसरा तरीका अपनाया था - अपनी सूझबूझ से। जैसे कि प्रथम वर्ष में वे कर्ण संस्कार - 'इअर ट्रेनिंग' करा लेते थे। उसके लिए उन्होंने अपनी एक 'हस्त-संगीत' की पद्धति अपनाई थी। इसका कुछ ज्ञान उन्हें अपने पहले गुरु कृष्णंभट्ट होनावरजी से प्राप्त हुआ था। उसमें और संशोधन करके उन्होंने इसे विकसित किया। उदाहरणार्थ, तर्जनी को सीधा खड़ा करें तो 'सा' ; फिर

और और उंगलियों के अलग अलग संचालन से स्वरों के और और रूप आदि का संकेत केवल इशारे से छात्रों को दिया जाता था और उसके मुताबिक सबका स्वरोच्चारण होता था। अण्णासाहब ने अपनी इस पद्धति के बारे में 'अभिनव संगीत शिक्षा' प्रथम खंड में विशेष विवेचन किया है। लेकिन यह तो हुआ आरंभिक कक्षाओं में। स्नातकोत्तर कक्षाओं में उनके सिखाने का तरीका अधिक गहन व्यापक और व्यामिश्र रहता था। अपनी समस्त विद्या को उन्होंने कुछ खास खास छात्रों को अधिक से अधिक रूप में वितरित करके अच्छे विद्वान गायकों की एक पीढ़ी का निर्माण किया और यह सब नाममात्र वेतन- और वह भी अनियमित रूप से - प्राप्त होने के बावजूद किया।

अण्णासाहब के गरिमामय अस्तित्व के कारण 'निपुण' की परीक्षा के लिए परीक्षक के नाते ऊंचे से ऊंचे कलाकारों का आगमन मैरिस कॉलेज में होता था। इतनी मान्यता थी कि पं. रविशंकर, उनके गुरु अल्लाउद्दीन खां, उस्ताद मुश्ताकहुसेन खां, उस्ताद विलायत हुसेन खां, देवास के रजब अलीखां, बनारस के बीनकार सिवेंद्रनाथ बसु ये सब कलाकार 'निपुण' के परीक्षकों की हैसियत से कॉलेज पधारे थे। एक विद्यार्थी की परीक्षा प्राय: तीन घंटे चलती थी। ऐसे महान कलाकारों को परीक्षक के नाते बुलवाने में अण्णासाहब का उद्देश्य यह रहता था कि उनके सामने कॉलेज के छात्रों की कला पेश हो जाए। और इसका सुपरिणाम यह हुआ कि ये श्रेष्ठ कलाकार जहां जहां जाएं मैरिस कॉलेज की शिक्षा और छात्रों की तैयारी के बारे में प्रशंसोद्गार ही व्यक्त करते।

इस प्रकार अण्णासाहब का यह कार्यक्षेत्र १९५६ तक चला। इस बीच एक ऐसी अभूतपूर्व घटना हो गई कि जिसकी बदौलत अण्णासाहब के कर्तृत्व के लिए और ऊंचा और चुनौतीभरा क्षेत्र प्राप्त हो गया और उनका कार्यकौशल अधिक मात्रा में चमक उठा। वह घटना थी **'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय'** की स्थापना और उसपर प्रथम उपकुलपति की हैसियत से अण्णासाहब रातंजनकरजी की नियुक्ति। घटना इसलिए अभूतपूर्व थी, कि संविधान की धारा के तहत शासकीय अनुदानप्राप्त और केवल संगीत के लिए समर्पित कोई भी विश्वविद्यालय १९५६ तक संपूर्ण देश में नहीं बना था। इसका श्रेय मध्यप्रदेश विधान सभा के नेता मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल, विलीन रियासत खैरागढ़ के राजासाहब और उनकी धर्मपत्नी रानी पद्मावती को है। राजासाहब, खैरागढ़ बड़े संगीत-प्रेमी थे। वे बाल्यकाल में ही भगवान को प्यारी हुई अपनी कन्या इंदिरा की स्मृति को कायम करने के हेतु एक संगीत विश्वविद्यालय की ही बुनियाद डालना चाहते थे, जिसके लिए वे अपना भव्य मनोहर राजप्रासाद दान करने के लिए तैयार थे। राजासाहब ने अपना यह सुझाव पं. रविशंकर शुक्लजी के सामने रखा। रविशंकरजी ने, जो कि स्वयं संगीत के प्रेमी थे, इस सुझाव का सोत्साह स्वागत किया और राज्य सरकार द्वारा सब कानूनी कार्यवाही के पश्चात् विश्वविद्यालय ऐक्ट क्र. XIX-, के तहत 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' की स्थापना की घोषणा १९५६ में हुई।

उपकुलपति रातंजनकर

इस विश्वविद्यालय के लिए सुयोग्य उपकुलपति के रूप में सर्वानुमति से आचार्य अण्णासाहब रातंजनकर का ही नाम सामने आया। दिल्ली में उन दिनों डॉ. बालकृष्ण केसकर सूचना और प्रसारण मंत्री थे। उनकी आंखों के सामने भी अण्णासाहब की ही मूर्ति थी। अस्तु, ५ फरवरी

१९५७ को अण्णासाहब ने यह नया पदभार संभालना शुरू किया और १९६० तक (उम्र के पूरे साठ वर्ष होने तक) वे उपकुलपतिपद पर रहे। कहां लखनऊ का चहलपहलभरा नागरिक क्षेत्र और कहां नीरवता से भरा खैरागढ़ का ग्रामीण प्रदेश! परंतु अण्णासाहब संगीत के कर्मठ व्रती थे। उन्होंने मन ही मन यह सोच लिया कि संगीत-क्षेत्र का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और भविष्य के लिए सर्वथैव लाभकर अवसर उपस्थित हुआ है और उसमें मेरी सेवाओं की आवश्यकता है तो मुझे आगे-पीछे देखना ही नहीं चाहिए। किंतु इसमें एक विडंबना यह रही कि भातखंडे कॉलेज, लखनऊ से बिदा होते समय अण्णासाहब ने वहां की नौकरी पर अपना कानूनी पूर्वाधिकार या 'लीऐन' (lien) को सुरक्षित नहीं रखा। वैसी सलाह भी उन्हें कहीं से प्राप्त नहीं हो सकी। हां, यदि डॉ. संपूर्णानंदजी उस समय वहां होते तो उन्हें यह 'लीऐन' रखने की सलाह अवश्य देते। संपूर्णानंदजी तो अण्णासाहब के गायन के उत्कट भक्त थे। किंतु उस काल आप राजस्थान के राज्यपाल के पद पर नियुक्त हुए थे।

यहां पर जाते जाते डॉ. संपूर्णानंद के संगीतानुराग के संबंध में बताना चाहिए, क्योंकि वह बात अण्णासाहब से संबंधित है। संपूर्णानंद जी ने राय उमानाथ बली को सदा के लिए कह रखा था कि रातंजनकरजी का गाना जहां कहीं भी हो आप मुझे सूचित कर दिया करें। अण्णासाहब ने भातखंडे पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में ७२ घंटे के निरंतर गायन-वादन समारोह की परिपाटी 'संगीत धारा' नाम से चलाई थी। समारोह का आरंभ एवं समापन (तीसरे दिन सुबह चार बजे) अण्णासाहब के गायन से ही होता था। और इन दोनों ही अवसरों पर डॉ. संपूर्णानंद अवश्य उपस्थित रहते।

यहां जाते-जाते इस 'संगीतधारा' स्मृति समारोह के बारे में भी बता देते हैं। यह एक खास किस्म का आयोजन रहता था, जिसमें सभी गायक-वादक तथा श्रोता उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते थे। लगातार ७२ घंटे तानपूरे बंद ही नहीं होते थे। एक गायक गा रहा है तो वह वहां से तभी उठेगा जब दूसरा गायक वहां स्थानापन्न हो जाए। कोई लड़का पांच मिनट भी गाए, मगर तानपूरा चालू ही रहेगा। और ध्यान देने की बात यह कि इस पूरे आयोजन में स्वयं अण्णासाहब तीनों दिन लगातार उपस्थित रहते।

अब डॉ. संपूर्णानंद जी से संबंधित एक विशेष घटना का बयान करके इस प्रसंग को पूरा करेंगे। सन १९३९ में पहली कॉंग्रेस मिनिस्ट्री आई; किंतु उसके बाद सब नेता जेल में भरती हो गए। उस जमाने में हम तो अण्णासाहब के पास ही रहते थे। एक दिन रात को तीन बजे दरवाजा खटखटाया गया। देखा तो साक्षात् संपूर्णानंदजी खड़े हैं! मैंने नमस्कार किया। आपने पूछा - "रातंजनकरजी हैं?" मैंने कहा, "जी हां, सोए हुए हैं।" इसपर आपने कहा कि उन्हें बताओ कि मैं आया हूं। मैंने बत्ती जलाई और सामनेवाले कमरे में आपको बैठाकर अण्णासाहब को जगाया। उन्हें भी ताज्जुब हुआ। घड़ी देखी तो साढ़े तीन बज रहे हैं। उन्होंने मुंह पर पानी का हाथ फेरा और बाहर आए। उस समय संपूर्णानंदजी ने कहा –

"मैं जेल से छूटकर अभी आ रहा हूं। बहुत अरसा बीत गया; संगीत से वंचित हूं; सोचा घर पहुंचने से पहले आपका गाना सुनकर ही जाऊं!"

फिर क्या? किसीने बायां-तबला लिया, किसीने तानपूरा। डेढ़ घंटे तक महफिल जमी; तब संपूर्णानंद जी अपने निवास को चले गए।

इस घटना से हमें यह भी संकेत मिलता है कि उस कालखण्ड के राजनीतिक नेता सांस्कृतिक

मामलों में कितनी रुचि रखते थे। भूतपूर्व प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री, भूतपूर्व राष्ट्रपति बाबू राजेंद्रप्रसाद, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री गोविंदवल्लभ पंत, उत्तर प्रदेश की पहली गवर्नर-कवयित्री सरोजिनी नायडू ऐसे अनेक गण्यमान्य नेताओं का आना-जाना उस काल में मैरिस कॉलेज में होता रहता था। पंडित जवाहरलालजी भी वहां कई बार आ चुके थे। मुझे याद है, अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मेरठवाले अधिवेशन में 'वंदे मातरम्' गाने के लिए हम छात्र कॉलेज की तरफ से गए थे। तब इन श्रेष्ठ नेताओं को हमने नजदीक से देखा था।

गुरुदेव ठाकुर

कॉलेज पधारनेवाले इन महानुभावों में गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर भी थे। उनके संबंध में एक किस्सा ही बताया जाए जो कि मेरे वहां जाने से पहले घटी हुई बात है, जिसे मैंने गुरुबंधु नोनीगोपाल बंदोपाध्याय से सुना है। रवींद्रनाथ ने अपने शांतिनिकेतन के लिए अण्णासाहब की सेवाएं मांगी थीं। पं. मदनमोहन मालवीयजी ने भी बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के लिए उनको भेजने के वास्ते पं. भातखंडेजी से अनुरोध किया था। भातखंडेसाहब ने अपना संगीत के अनुसंधान का कार्य आरंभ किया तो बंगाल के संगीत- शोधकर्ता राजा सौरींद्रमोहन टागोर से उनका पत्रव्यवहार बराबर चलता रहा। गुरुदेव उसी घराने के थे। उन्होंने भातखंडेजी की संगीतविषयक सामग्री को देखा था और उससे काफी प्रभावित हुए थे। एक बार गुरुदेव लखनऊ आए थे और यूनिवर्सिटी के वनस्पतिविज्ञान के प्रोफेसर सिद्धांत के यहां ठहरे हुए थे; कुछ बुखार हुआ था उनको। उन्होंने प्रो. सिद्धांत से कहा, "मुझे श्रीकृष्णा को सुनना है। उन्हें बुला लो।" तब अण्णासाहब गए और पास बैठकर उन्हें अपना गायन सुनाया। इस प्रकार गुरुदेव अण्णासाहब को निकट से जानते थे। अब अण्णासाहब न तो बनारस में तैनात हो सके न शांतिनिकेतन में; किंतु ध्यान देने की बात यह है कि मैरिस कॉलेज से इन दोनों संस्थाओं के संबंध बहुत निकट के रहे। जबतक पं. मदनमोहन मालवीय और डॉ. राधाकृष्णन् बनारस यूनिवर्सिटी से अधिकाधिक रूप से संबंधित रहे तबतक वहां भातखंडे-प्रणीत पाठ्यक्रम ही जारी रहा और शांतिनिकेतन में तो अद्यावधि यही पाठ्यक्रम कार्यान्वित होता है। इस सिलसिले में और बात भी उल्लेखनीय है। उत्तर भारत में जितने भी विश्वविद्यालय- इलाहाबाद, पटना, दिल्ली, कलकत्ता, पंजाब– हैं, वहां सब जगह भातखंडे पद्धति ही अपनाई गई है। इसका प्रधान कारण यह रहा कि जब इन विश्वविद्यालयों के संगीत विभाग खुले तो उनके पाठ्यक्रम के निर्माण और कार्यान्वयन के लिए, उस जमाने में, अण्णासाहब के सिवा कोई दूसरा विशेषज्ञ था ही नहीं। इस प्रकार अण्णासाहब का शैक्षणिक पक्ष अत्यंत बलवान और सर्वगामी रहा। उन्होंने उत्तर भारत के तमाम महाविद्यालयों में अपना योगदान देते हुए वहां के शैक्षिक स्तर को आरंभ से ही एक स्तरीयता प्रदान की। अनेक शिष्यों को उन्होंने आदर्श अध्यापक के रूप में ढाला और वे अलग अलग कॉलेजों में जाकर उस प्राप्त विद्या का सुचारु रूप से वितरण करने में लगे रहे।

मैरिस कॉलेज की एक खासियत यह रही कि उच्च कोटि के महफिली कलाकारों और उस्तादों का निकट संबंध कॉलेज के साथ बराबर बना रहता था, जिससे पूरे माहौल में ही विद्या की गहराई के साथ साथ कला की सौंदर्यवत्ता को भी महत्त्व दिया जाता रहा। ऐसे अनेक अनुभवों से तो हम सभी शिष्य लोग सराबोर हुए हैं। उसका बखान शब्दों के परे है। जैसा कि मैंने पहले बताया है कि जब कॉलेज की स्थापना हुई, बड़े बड़े उस्तादों की वहां पर मार्गदर्शक

के नाते नियुक्ति हुई थी। कॉलेज में आरंभ से ही गायन के अलावा सरोद, सितार, वायोलिन, इसराज इन सभी विषयों का समावेश था। खलीफा आबिद हुसैन, अहमद मियां, छोटे मुन्नेखां, तानरसखां घराने के बाबा नसीर,- ऐसे अनेक उस्तादों को अकबरपुर के राजा नवाब अली साहब की सिफारिश पर नियुक्त किया गया था। लेकिन उसमें एक बात यह थी कि इन उच्च कोटि के कलाकारों को कॉलेज के माहौल में पढ़ाने का अनुभव नहीं था, जहां सामूहिक तौर पर भी अध्यापन करना होता है । इससे शुरू के दिनों में वे अपने अध्यापन कार्य में उतने सफल नहीं हो सके। बादमें पं. भातखंडेजी अक्सर लखनऊ कॉलेज के लिए अपना समय देते थे और अध्यापकों को पढ़ाने के संबंध में मार्गदर्शन देते थे। उन्होंने सरोद सिखाने के लिए खास तौर पर सहारनपुर के उस्ताद सखावतहुसैन खां, एवं सितार सिखाने के हेतु उ. हामिद हुसैन खां को बुलवा लिया था। खैर, इन सब बातों के रहते हुए भी ऊंचे ऊंचे कलाकारों की बदौलत समूचे परिसर में गायनवादन कला के दिव्य अनुभव नित्यप्रति वहां के सभी संबंधितों को प्राप्त होते रहते थे।

ऐसे ही एक अनुभव का बयान मैं जरूर करना चाहूंगा। हमारे कॉलेज में उस्ताद हमिद हुसैन खां सितार के लिए नियुक्त हुए थे। मैं बिलकुल निश्चयपूर्वक कहूंगा कि ऐसी सितार मैंने अबतक सुनी ही नहीं। हमारे गजाननबुवा जोशी भी कहते थे कि मैंने जो थोड़ी-सी सितार मैसूर में उनसे सुनी थी वैसी फिर नहीं सुनने को मिली। इसका एक ही अनुभव मैं बताता हूं। लखनऊ में बंबई से तारद्वारा हमें एक खुशखबरी मिली कि अण्णासाहब को पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है। बस, समाचार पूरे कॉलेज में पहुंच गया। उसी समय ग्वालियर से पं. राजा भैयाजी पूंछवाले वहां पधारे थे। सब लोग खाने के लिए अण्णासाहब के यहां बैठे थे और सबने देखा कि उ. हमीद हुसेन बगल में सितार लेकर आ रहे हैं। उन्होंने कहा - "जब हमने सुना तो सोचा कि इस खुशीको मनाने के लिए हमारी तरफ से भी कुछ सेवा हो जाए।" तो राजाभैय्या ने भी कहा कि इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है?" फिर खाना खाने के बाद हमीद सितार लेकर बैठे और केदार बजाया। और उस राग का ऐसा माहौल पैदा किया कि उसका बयान शब्दों में करना असंभव है। राजाभैय्या ने मेरे पास उस घटना का जिक्र करते हुए कहा था कि ऐसा केदार मैंने नहीं सुना। उस बजाने में महफिलबाजी नहीं थी, विद्या का आदान-प्रदान था। दो गुणीजनों का आपसी संवाद था। राजाभैय्या आगे बोले–

"एक डेढ़ घंटे तक उन्होंने केदार का आलाप किया तब मुझसे रहा नहीं गया। मैं भीतर के कमरे में गया और अपने बॅग से कश्मीर के महाराज से भेंट में मुझे मिली हुई जरी के कामवाली शॉल लेकर आया और उसे खांसाहब को ओढ़ा दिया। मैंने उनसे कहा - "खांसाहब मैं गरीब ब्राह्मण हूं, मेरे पास इससे कीमती दूसरी कोई चीज नहीं। यह मेरी तरफ से आपको छोटा-सा नजराना है।"

तो ऐसा था मैरिस कॉलेज का माहौल! वहां गुनिजनों की कद्र होती थी और उन्हें भी अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए प्रोत्साहन मिलता था।

नृत्य विभाग

धीरे धीरे इन बड़े उस्तादों के जो शिष्य खास ढंग से तैयार हुए थे, उन्हें कॉलेज में सिखाने के काम पर नियुक्त किया गया। जैसे राम गोपाल वर्मा, जो सखावत हुसैन और हमिद हुसैन

से सीखे हुए थे। अण्णासाहब ने अपनी दूरदृष्टि से कॉलेज के लिए अच्छे अध्यापकों की नियुक्ति में विशेष ध्यान दिया। इसका एक और उदाहरण है नृत्यविभाग के लिए **श्री मोहनराव कल्याणपुरकर** (जानी-मानी नृत्य निपुण श्रीमती रोहिणी भाटे के गुरु) की नियुक्ति। नृत्य विभाग १९३६ में शुरू किया गया। वहां कथक नृत्य के लिए अच्छन महाराज और शंभू महाराज के मामा रामदत्त मिश्र की नियुक्ति हुई थी। नृत्य सीखने के लिए कॉलेज में संभ्रांत घर की अनेक लड़कियां आती थीं। सर तेजबहादुर सप्रू की पौत्री और फिल्म अभिनेत्री यशोधरा काटजू वहां नृत्य की शिक्षा लेने आती थीं। अण्णासाहब नृत्य विभाग को बढ़ाना चाहते थे, इसलिए वे किसी अच्छे, सुशिक्षित गुरु की तलाश में थे। उन दिनों बंबई में मोहनराव कल्याणपुरकर, पं. सुंदर प्रसादजी से तालीम पा रहे थे। उन्होंने अपने गुरु के नाम से बंबई में 'बिंदादीन स्कूल ऑफ डान्स' नाम से विद्यालय चलाया था। सर नारायण चंदावरकर के सुपुत्र श्री प्रभाकर ने अण्णासाहब के पास मोहनराव की सिफारिश की। अण्णासाहब खुद उनका नृत्य देखने गए और उनकी योग्यता की परख के बाद उन्होंने उन्हें लखनऊ कॉलेज के नृत्यविभाग के प्रमुख के रूप में नियुक्त कर दिया। मोहनराव लखनऊ आए और उन्होंने सर्वप्रथम नृत्य का सुविहित पाठ्यक्रम बना लिया। राय उमानाथ बली भी नृत्य में बहुत रुचि रखते थे। उनके प्रोत्साहन से 'अभिनय दर्पण' ग्रंथ का एक छात्रोपयोगी संस्करण भी छपकर पाठ्यपुस्तक के रूप में तैयार हो गया। इसके साथ साथ मोहनरावजी ने अच्छन महाराज से गंडा बंधवाया और साथ साथ शंभू महाराज से भी तालीम प्राप्त करने लगे। इस प्रकार अण्णासाहब ने सुयोग्य अध्यापक की नियुक्ति करके नृत्य की शिक्षा के विकास में बड़ा योगदान दिया। उन्होंने मोहनरावजी को अपने विभाग के विकास के लिए पूरी छूट दे दी थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि कथक नृत्यकला के साथ मुगल दरबार के जो पुराने संस्कार चिपके हुए थे, वे कम होते गए और उसमें आधुनिक युग के अनुकूल कलात्मक परिवर्तन हुए। यह श्रेय मोहनरावजी को है। मेरा सौभाग्य यह रहा कि हम सब साथ ही होस्टेल के एक कमरे में रहते थे। इसलिए उनके विचारों की जो गतिविधियां चलती थीं उसका मैं साक्षी रहा। मोहनराव जी की मान्यता इतनी बढ़ी थी कि उस काल में, मैंने देखा है, बिरजू महाराज भी उनसे हमेशा परामर्श करते। मोहनरावजी अच्छन महाराज से सीखते थे तब बिरजू ६-७ साल के थे।

मोहनराव जी की प्रतिभा के बारे में एक घटना सुनाने लायक है। जब जब अच्छन महाराज सिखाने आते तब अक्सर अण्णासाहब के दर्शन करके जाया करते। एक दिन ऐसे ही एक अवसर पर अण्णासाहब ने बीच में एक सवाल उठाया – "महाराजजी, एक फरमाइश है। त्रिताल में ऐसी एक रचना सुनाइए कि सम से सम तक एक पूरा टुकड़ा हो, मगर जहां जरब है वहां कोई बोल न हो।" महाराजजी थोड़ी देर तक सोचते रहे। मोहनराव वहीं बैठे हुए थे। उन्होंने कहा – "गुरुजी, आपने हमें यह सिखाया है।" और इतना कहकर उन्होंने अपनी ओर से उस फर्माइश की पूर्ति करके गुरु का नाम रख लिया। कहने का मतलब यह कि अण्णासाहब नित्य प्रति किसी नई सूझ बूझ से पूरे वातावरण में एक 'नित्यजागरण' का भाव जगा देते थे। हमेशा कोई न कोई अनोखी फरमाइश होती रहती थी और उससे सहभागियों को एक नई दिशा मिलती थी। मैंने पहले बताया ही है कि कोई ऊंचा कलाकार लखनऊ में आया हो और अण्णासाहब से मिले बिना लौटा हो, ऐसा कभी हुआ नहीं। और भेंट याने दुआ सलामवाली नहीं, संगीतमय भेंट, जिसमें कला-प्रस्तुति, वैचारिक आदान-प्रदान सब होता था।

इन सब बातों का अप्रत्यक्ष प्रभाव आसपास की छात्रमंडली पर पड़े बिना नहीं रहता था। उसमें पैसे का सौदा नहीं था, कद्रदानी महत्त्व की चीज थी। हमारे जमाने में कई बार गवैये-बजवैये आते रहते थे। रात रात भर महफिलें चलती थीं। पं. रविशंकर आ जाते और कहते, "आज रात बैठेंगे।" उस्ताद निसार हुसेन, रजब अली खां - ऐसे अनेक ऊंचे कलाकार। इसीलिए मैं कहता हूं कि १९५६ तक मैरिस म्यूजिक कॉलेज संगीत का तीर्थस्थान बन गया था।

उदार आदर्श प्रशासक

कॉलेज की स्थापना बहुत-सी असुविधाओं और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला करते हुए हुई थी। प्रशासनिक दृष्टि से संपूर्ण उपस्करण और सज्जा के साथ युक्त कार्यालय, उसमें दो-तीन लिपिकों की नियुक्ति इत्यादि आवश्यक बातों के लिए कॉलेज में गुंजाइश ही नहीं थी। सारा काराबोर एक तरह से अकेले अण्णासाहब ही चला लेते थे। क्लर्क का काम भी वे खुद ही करते। कोई साधारण-सा पत्र भी आता तो उसका उत्तर खुद देने बैठे जाते। ऐसे छोटे-मोटे कामों के लिए किसी क्लर्क को तैनात करके उसका वेतन देने की व्यवस्था कॉलेज के प्रबंधक नहीं कर सकते थे। सच बात यह थी, जिसका पहले जिक्र हो चुका है कि, कॉलेज के आर्थिक पक्ष को राय उमानाथ बली ही संभालते थे। वस्तुत: राय उमानाथ और अण्णासाहब ही कॉलेज को चलाते थे। उन दोनों में अपने आप एक संकेत तय हुआ था कि कॉलेज का प्रशासनिक कार्य, शैक्षिक स्तर आदि का दायित्व अण्णासाहब निभाएंगे और इन कामों के लिए तथा अध्यापकों के वेतन आदि के लिए जो राशियां आवश्यक थीं उनका प्रबंध राय उमानाथ करेंगे।

ऐसी दशा में हम कल्पना कर सकते हैं कि अण्णासाहब को कितना काम करना पड़ता होगा। उन्हें व्यक्तिगत मनोविनोद आदि के लिए फुरसत ही नहीं मिलती थी। उनके सामने अपने महान गुरुवर भातखंडेजी का आदर्श था। पंडितजी ने अपना प्रत्येक क्षण संगीत के कार्य में लगा दिया था। अपनी अपनी लिखा-पढ़ी और शोध-कार्य में ही वे बराबर व्यस्त रहते। यदि वे सामाजिक गतिविधियों में दखल देते तो इतना विराट् कार्य कर ही न पाते। जो लोग उनसे मिलना और परामर्श करना चाहते उनके लिए उन्होंने सागरकिनारे की चौपाटी पर घूमने का अपना समय बता दिया था। लोग वहां उनसे भेंट करते। अण्णासाहब की प्रवृत्ति भी ऐसी ही बनी कि लखनऊ में अपने कमरे में बैठे हुए वे निरंतर अध्ययन या महाविद्यालयीन कार्य में लगे रहते थे। कभी कुछ नोटस् लिख रहे हैं, किसीको कुछ सिखा रहे हैं - ऐसा ही सिलसिला चलता। यदि परीक्षा के लिए प्रश्नपत्र बनाना हो तो उसे खुद ही चक्रमुद्रित (साइक्लोस्टाइल्ड) कर लेते; क्योंकि गोपनीयता का प्रश्न था। हां, दोस्त मंडली भी थी, जैसे डेप्युटी कमिशनर गोड़से साहब आदि कई एक मित्र थे। इन मित्रों ने तय किया था कि बीच में हम कभी मिलकर गपशप में समय बिताएं, 'रमी' का खेल भी हो। वे लोग अण्णासाहब को खींचकर ले जाते थे। अण्णासाहब कभी कभी जाते किंतु रमी-ताश वगैरेह में उन्हें दिलचस्पी नहीं रहती थी। इसपर मित्रों ने यह उपाय निकाला कि चलो अण्णासाहब के घर पर जाकर ही अड्डा जमाएंगे। वहां पर अण्णासाहब सबका खाना-पीना करवाते थे। फिर भी कुल मिलाकर वे मितभाषी और अंतर्मुखी प्रवृत्ति के थे। किंतु संगीत के विषय में आप सच्ची जिज्ञासावश कुछ जानना चाहेंगे या बहस करना चाहेंगे तो आधी रात को भी आप उनका द्वार खटखटा सकते थे। ऐसे अवसरों

पर वे बड़े प्रेम से और दिल खोलकर बात किया करते थे। बंबई में मैंने खुद देखा है कि संगीत-समीक्षक श्री वामनराव देशपांडे जैसे सज्जनों से उनकी चर्चाएं घंटों चलती थीं। एक व्यक्ति के रूप में देखा जाए तो ऐसा उदार व्यक्तित्व मिलना दुर्लभ है। ऊपर से वे कटहल की तरह कांटेदार लगते हों किंतु उस ऊपरी पटल को दूर करके देखेंगे तो मधुरता के सिवा और कुछ नहीं मिलेगा। कुल मिलाकर मैं यह कहना चाहूंगा कि विधाता ने उनकी योजना मैरिस कॉलेज के माध्यम से अखिल भारतीय सांगीतिक उद्‌बोधन और विकसन के लिए की थी। अपने इस मिशन में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी और अंतिम क्षण तक दक्षतापूर्वक अपने कार्य में दत्तचित्त रहे। उनके इस अपूर्व त्याग के ही मधुर फल आज की हमारी पीढ़ी को मिल रहे हैं।

●

'ऑडिशन और अण्णासाहब

डॉ. रातंजनकरजी के कार्यकाल में आकाशवाणी के 'ऑडिशन' का एक प्रकरण किसी आकस्मिक उपकथा की भांति उपस्थित हुआ और १९५२ से १९६० तक अण्णासाहब उसके साथ गंभीरता से संलग्न रहे। आकाशवाणी ऑडिशन की घटना गुरुवर अण्णासाहब के ही नहीं, बल्कि समस्त संगीत क्षेत्र की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। परंतु जबतक उसकी सही पृष्ठभूमि मालूम नहीं होगी, तबतक इस ऐतिहासिक कार्य में अण्णासाहब ने जो त्याग किया और उनकी जो दूरदृष्टि तथा दक्षता प्रकट हुई उसके सही दर्शन नहीं हो पाएंगे। वस्तुतः इस कार्य को अंत तक निभाते हुए उन्हें अपार कष्ट झेलने पड़े, उससे बढ़कर कलाकारों का भयानक विरोध सहना पड़ा और यहां तक कि अवकाशग्रहण के उपरांत बंबई में स्थित हो जाने पर भी उस विरोध के बादल नहीं छंटे। लेकिन मैं दावे के साथ कहना चाहूंगा कि ऑडिशन के मामले में अण्णासाहब की भूमिका सौ प्रतिशत निष्पक्षतापूर्ण और संगीतकला को ही वरीयता देनेवाली रही थी। किंतु यह तबतक साबित नहीं हो पाएगा जबतक संपूर्ण प्रमाणों के साथ सब आक्षेपों पर विचार न किया जाए। इसलिए शुरू में ऑडिशन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ही पहले जान लें।

'ऑल इंडिया रेडियो' के नाम से आकाशवाणी की स्थापना ब्रिटिशों के जमाने से ही हुई थी। आकाशवाणी प्रशासन और कार्यक्रम संयोजन का काम सरकारी कर्मचारी और अफसरों को ही सौंपा गया था। वे ही कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करते, कलाकारों को भी निश्चित करते और इतना ही नहीं तो उनका स्तरीकरण या ग्रेडेशन भी वे ही लोग किया करते थे। बुजुर्ग कलाकारों को यह बहुत खटकता था कि जिन्हें संगीत-कला का 'क ख ग' भी मालूम न हो वे लोग हमारी परीक्षा करें और हमें मनमानी ग्रेड़ प्रदान करें। वे बराबर सरकार के पास शिकायत करते रहे कि हमारा ग्रेडेशन मान्यवर कलाकारों के द्वारा ही कराया जाए। इस विषय को लेकर काफी लिखा-पढ़ी हुई थी किंतु वे सब फाइलों में बंद करके रखी गई थीं। अंग्रेजी शासन ने उसपर कोई कार्यवाही नहीं की थी। आजादी के बाद हमारा मंत्रिमंडल बना और डॉ. रंगराव दिवाकर हमारे पहले सूचना एवं प्रसारण-मंत्री मनोनीत हुए। स्वाभाविक रूप से उन्होंने पुरानी फाइलों का निरीक्षण करना आरंभ किया तब उन्हें इस समस्या का पता चला। उन्होंने अपने कार्यकाल में उस दिशा में कुछ अनुकूल कदम उठाए, किंतु तब तक दूसरा मंत्रिमंडल अधिकार पर आ गया, जिसमें डॉ. बाळकृष्ण केसकर प्रसारण मंत्री बने। फिर उन्होंने जब पुरानी

फाइलें उलट पुलटकर देखीं तब उनमें डॉ. दिवाकर के नोटिंग्ज उन्हें मिले। हो सकता है कि इस बात को लेकर दिवाकरजी से उनका परामर्श भी हुआ हो। किंतु केसकरसाहब को किसी श्रेष्ठ कलाकार द्वारा आकाशवाणी के गायक-वादकों का ग्रेडेशन करने की कल्पना बहुत इष्ट लगी। सभी दृष्टियों से विचार करने के बाद यह तय हुआ कि अखिल भारतीय प्रतिनिधित्व के तौर पर कलाकारों की एक समिति नियुक्त की जाए। उसके मुताबिक १९५२ में समिति का गठन हुआ। समिति के चेअरमन रहे रियासत रामपुर के संगीत मर्मज्ञ राजासाहब नवाब रजाअली खां और वाइस चेअरमैन का पद अण्णासाहब को सौंपा गया। सदस्य प्रतिनिधि के रूप में ठाकुर जयदेवसिंह, रवींद्रलाल राय, वीरेंद्र किशोर राय चौधरी, उस्ताद मुश्ताक हुसेनखां और पं. विनायकराव पटवर्धन आदि कलाकारों को चुना गया। बाद में श्री गोविंदराव टेंबे तथा प्रयाग संगीत समिति के वी. एन. कशालकर भी सम्मिलित हुए। प्रत्येक ऑडिशन के दौरे के लिए तीन सदस्यों का पैनल रहता था, जिसमें वाइस चेअरमैनसाहब तो रहते ही थे शेष सदस्यों में से किन्हीं दो को सम्मिलित कर लिया जाता था।

गलतफहमियां

इस समस्त आयोजन के पीछे जो सराहनीय उद्देश्य था वह मानकीकरण (standardization) का था। १९५१ के आसपास जो गायक ऑडिशन के लिए आया करते थे उनमें से कइयों को बंदिशों के पूरे स्थायी-अंतरे भी याद नहीं रहते थे। केवल मुखड़े पर काम निभा लेते थे। समप्रकृतिक रागों के बारे में तो कई घपले हुआ करते थे। जरूरत इस बात की थी कि अखिल भारतीय श्रोताओं के सामने राग का शास्त्रशुद्ध सही रूप प्रस्तुत हो जाए, बंदिशों के मुखड़े के शब्द और स्थायी, अंतरा आदि का ज्ञान रखते हुए उनका गायन किया जाए जिससे कि गायन की आम प्रस्तुति में एक समरूपता आ सके और श्रोताओं को कलात्मक आनंद के साथ साथ संगीत के प्रति अपनी समझ को विकसित करने का अवसर मिले। उस काल तक जो कलाकार अपने को 'तैयार' मानकर आकाशवाणी पर आते थे, उनको पुराने ढंग की तालीम मिली थी, जिसमें स्थायी-अंतरा वगैरह के बारे में या विद्या को भलीभाँति खोलकर प्रदान करने के बारे में गुरुओं और उस्तादों के द्वारा शिथिलता और आलस्य से ही काम लिया गया था। मतलब यह कि दोष उन कलाकारों का नहीं था, बल्कि परिस्थितियों का था। ऐसी दिशा में ऑडिशन के इन कड़े नियमों के कारण ऐसे सभी बुजुर्ग कलाकारों पर कैसी गुजरी होगी इसका अनुमान किया जा सकता है! बहुत-से कलाकारों की तो यही दृढ़ धारणा हो गई कि हमपर जानबूझकर अन्याय किया जा रहा है। अब ऑडिशन समिति जो भी निर्णय लेती थी उसे सर्वानुमति से पारित किया जाता था। उसमें अकेले अण्णासाहब कारणीभूत नहीं रहते थे। और यदि कलाकारों में खोट पाई जाती तो उन्हें कभी अनुत्तीर्ण किया जाता , तो कभी उनको निचले ग्रेड पर रखा जाता। किंतु विडंबना यह रही कि सबकी सहमति से निर्णय होने के बावजूद सारा दोष अण्णासाहब के मत्थे ही मढ़ दिया जाता रहा। इस बात से अण्णासाहब के अनेक कलाकार सहयोगी एवं स्नेही उनपर सख्त नाराज हो गए और यह सिलसिला आगे तक चलता रहा।

अण्णासाहब को इन घटनाओं की बदौलत आत्यंतिक मानसिक यंत्रणा से गुजरना पड़ा। वह हमसे कहा करते थे कि फैयाजखांसाहब के गंडाबंध शागिर्द के रूप में जितने कलाकारों

ने मुझे अपना लिया था, वे सब मुझसे दूर हो गए। अपने लखनऊ के कार्यकाल में गुरुवर रातंजनकरजी जितने पूजनीय रहे, उतने ही ऑडिशन के इस कांड के कारण बदनाम हुए। इसे भाग्य की विड़ंबना ही तो कहा जा सकता है! क्योंकि इस दायित्व को उन्होंने केवल कर्तव्य के रूप में अंत तक निभाया था। अपने उसूलों से वे टस से मस नहीं हुए। उसमें धन या सम्मान की कोई अपेक्षा उन्होंने कतई नहीं रखी थी। किसीको विश्वास नहीं होगा कि उन्होंने इस कार्य के लिए कोई वेतन नहीं लिया था। परंतु इस अविवेकमय विरोध को रोकना असंभव था; क्योंकि उसके पीछे पूर्वग्रहदूषित दृष्टिकोण ही आरंभ से अंत तक रहा। और इस विरोध का कोई संघटित रूप भी 'भारतीय कलाकार मंडल' नामक एक गुट्ट के रूप में सामने आया था, प्रेरक प्रो. बी. आर. देवधर थे। उन्होंने अपने साथ उ. विलायतहसेन खां आग्रेवाले, श्रीमती मोगूबाई कुर्डीकर, अमीरखां, सितार नवाज विलायतखां आदि सबका एक संगठन बनाया। इसमें एक रहस्य की बात भी थी, जिसका जिक्र करने में अब कोई संकोच नहीं होना चाहिए। ऑडिशन कमिटी के पैनल पर पं. विनायकराव पटवर्धन का निर्वाचन प्रो. देवधर को अखर गया था। आप उस काल अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल के प्रेसिडेंट थे। यों देवधरसाहब को शुरू से ही ऑडिशन की शर्त से छूट दे दी गई थी। फिर भी अंदरूनी स्थितियां ये थीं कि पं. विनायकरावजी के साथ उनके काफी मतभेद थे। डॉ. केसकरजी ने पं. विनायकराव को एक सबसे 'सीनियर' व्यक्ति के रूप में स्थान दे दिया था। किंतु हरेक की देखने की दिशा भिन्न होती है। यह सारा इतिहास इसलिए खोलकर बताना पड़ रहा है, कि पर्दे के पीछे की वास्तविकता उस समय लोगों की नजरों के सामने नहीं आ पाई थी।

इस सिलसिलें में यह रेखांकित करना भी समीचीन होगा कि प्रो. बी. आर. देवधर के मन में अण्णासाहब के प्रति नितांत श्रद्धा और आदर का भाव था, जिसका अनुभव मैंने स्वयं किया है। सन १९३६ में प्रार्थना समाज की जगह में देवधरजी का 'स्कूल ऑफ इंडियन म्यूझिक' चलता था। वहां देवधरजी ने अण्णासाहब के अनेक सप्रयोग भाषण करवाए थे। वहीं पर मेरे बालमित्र कुमार गंधर्व से मेरी मुलाकात हुई। हम कितने ही सालों के बिछड़े साथी फिर वहां मिले। अण्णासाहब तीन महीने की गरमी की छुट्टी पर बंबई आया करते तब उनके भाषण रखे जाते। कुमार तो देवधरजी का ही शागिर्द था। वह भी भाषण में तथा अण्णासाहब के रियाज के वक्त उनके पास बैठा करता था। रियाज के वक्त देवधर जी भी झांकते और फिर अण्णासाहब के साथ उनकी चर्चाएं चलती रहतीं। प्रो. देवधर उस जमाने के ग्रेजुएट थे इसलिए भातखंडे परंपरा के शिक्षासंपन्न अण्णासाहब के साथ उनका मेलजोल हो जाना बिलकुल स्वाभाविक था। ...किंतु बीच की इन घटनाओं के कारण उसमें व्याघात आ गया।

अण्णासाहब की उदारता और दक्षता

अब इन गलत फहमियों के पीछे और एक अत्यंत साधारण-सी वजह थी। वह यह कि अण्णासाहब के बोलने का लहजा अपरिचित व्यक्ति को कुछ रूखा और कठोर-सा लगता था। वह सामान्य-सी बात भी कुछ परुषतापूर्वक कहने के आदी थे। इसीलिए किसीको लग सकता था कि ये गुस्से में आकर बोल रहे हैं। किंतु बात बिलकुल विपरीत थी। वह उनका एक खास लहजा था। उनके स्वभाव में ऋजुता और हमदर्दी किस कदर भरी हुई थी इसका एक उदाहरण आपको बताता हूं; इस ऑड़िशन से ही संबंधित है वह। एक जी. के. निमकर

नामके गायक थे। बंबई में मोहनराव पालेकर के पास सीखते थे, शौकिया गाते थे और सी ग्रेड़ के कलाकार थे। १५-२० मिनट के कार्यक्रम उन्हें मिला करते थे। जब उनका ऑड़िशन हुआ तब पैनल पर रवींद्रलाल रॉय, ठाकुर जयदेवसिंह और अण्णासाहब थे। जब सबने उनका गाना सुना तब डॉ. रॉय और ठाकुरसाहब ने तुरंत निर्णय दिया कि इन्हें 'डिबार' कर दिया जाए। लेकिन अण्णासाहब ने ही इस निर्णय को सौम्य कराते हुए यह मनवा लिया था कि इन्हें कार्यक्रम कम संख्या में दिए जाएं किंतु इन्हें पूरी तरह बंद न किया जाए। दूसरा उदाहरण महाराष्ट्र के उस जमाने के जाने-माने महफिली और नाट्यसंगीत के गायक पं. सुरेश हळदणकर का है। उनके ऑड़िशन में विलासखानी तोड़ी और कोमल ऋषभ आसावरी इन दो समप्रकृतिक रागों को लेकर उन्हें छेड़ा गया था। इसपर पहले तो वे अप्रतिभ हो उठे, कुछ नाराज भी हो गए। किंतु कुछ दिन बाद अण्णासाहब को एक महफिल में उन्होंने सुना और वे उनके पक्के कायल हो गए और रागचर्चा वगैरह को लेकर अण्णासाहब के साथ उनका काफी संपर्क बना रहा। तो अण्णासाहब का दृष्टिकोण यह था कि जो भी कलाकार आकाशवाणी पर अपनी कला प्रस्तुत करता है तो उसे सब दृष्टियों से आदर्श और निर्दोष होना चाहिए। उनके सारे प्रयत्न इसी दिशा में रहते थे। इसके आगे की बात मैं आपको बताऊं कि उन्होंने डॉ. केसकर को पत्र लिखा था कि मैं भी एक कलाकार हूं, तो मेरा भी ऑड़िशन होना चाहिए! केसकरजी को उन्हें बताना पड़ा कि आप वाइस चेअरमैन हैं तो आप अपने आप ऑडिशन के परे ठहर जाते हैं।

ऐसा एक आक्षेप सुनने में आता है कि खास घराने के कलाकारों के साथ रियायत बरती जाती थी। अगर ऐसा होता तो प्रो. नारायणराव पटवर्धन 'प्रोड्यूसर' न होते। पं. पद्माकर बर्वे भी प्रोड्यूसर न होते। अगर इसकी नामावली निकालकर देखी जाए कि भातखंडे परंपरा के कितने 'संगीत निर्माता' (प्रोड्यूसर) उस कालखंड में आकाशवाणी पर थे और दूसरे घरानों के कितने थे तो अपने आप पता चल जाएगा। अब जिस समय डॉ. सुमति मुटाटकर 'डाइरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स' नियुक्त हुईं उस समय भी यही बात फैलाई गई कि डॉ. रातंजनकरजी की सिफारिश पर ही केसकरसाहब ने उन्हें यह पद दिलवाया। लेकिन हकीकत एकदम दूसरी है। उन दिनों आत्माराम गोविंद खेर उस समय की लोकल सेल्फ गर्वमेंट की मंत्री श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित के साथ उसी विभाग में डेप्युटी मिनिस्टर और एसेंब्ली में स्पीकर भी थे। इन खेर साहब की पत्नी और डॉ. सुमति चचेरी बहनें लगती हैं। अब क्योंकि आप संगीत में डॉक्टरेट हो चुकी थीं और ये लोग काँग्रेस के कार्यकर्ता थे, तो स्वाभाविक रूप से श्रीमान खेर ने डॉ. केसकर के पास बात छेड़ दी कि अगर आप इन्हें योग्य समझते हों तो इनकी नियुक्ति 'डाइरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स' के पद पर करवा दीजिए। फिर स्वाभाविक रूप से ही केसकरजी ने अण्णासाहब से इसके बारे में राय की। तब उन्होंने कहा कि शिक्षा और संगीत दोनों में इन्होंने अच्छी तरक्की कर ली है; इस पद के लिए वह योग्य हैं। तो इस पूरी घटना में पहल किसने की थी, यह अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि ऑडिशन समिति का नेतृत्व करने की बदौलत अण्णासाहब को अपार व्यक्तिगत हानि उठानी पड़ी किंतु यह भी सत्य है कि ऑड़िशन ने व्यापक तौर पर संगीतक्षेत्र में एक जागरण की लहर को भी दौड़ा दिया। इसमें दो राय नहीं हो सकती और इस बात को मैंने खुद अनुभव किया है। ऑड़िशन की शर्तोंने कलाकारों को चौकन्ना बना दिया था।

साधारण से लेकर बुजुर्ग कलाकारों तक स्थाई-अंतरे के शब्दों, रागों के वादी-संवादियों, समप्रकृतिक रागों के साम्यभेद आदि को लेकर बराबर चर्चाएं होने लगीं। पं. जगन्नाथबुवा पुरोहितजी का ही उदाहरण बताता हूं। वे एक जानेमाने बुजुर्ग कलाकार थे। उन्हें किसीको परीक्षा के लिए वगैरह तैयार करना नहीं था। किंतु एक बार मैं उनके यहां गया था, संयोगवश पं. वि.रा. आठवले भी वहां मौजूद थे और बुवासाहब उनके साथ चर्चा में लगे हुए थे कि पूरिया धनाश्री में गंधार वादी क्यों नहीं होना चाहिए, पंचम ही क्यों? फिर वहां उस चर्चा में मैं भी शामिल हो गया। तो कहने का मतलब यह कि ऑड़िशन की नई परिपाटी ने सबको संगीत के बारे में अपने अपने बलबूते पर सोचने के लिए प्रेरित कर दिया। जो छात्र विद्यालय में सीखते थे, उनकी भी जिज्ञासाएं जागृत हो उठीं और वे अपने अध्यापकों से नाना प्रकार की शंकाएं पूछने लगे। महफिली कलाकार यह कहते हुए पाए जाने लगे कि आजकल श्रोताओं में से कोई व्यक्ति ऐसा प्रश्न पूछ बैठता है कि जवाब देना मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार देखा जाए तो ऑड़िशन की परिपाटी के लिए अण्णासाहब की नि:स्वार्थ, नि:ष्पक्ष और संगीतोपकारक दृष्टि के कारण आरंभ से ही एक ठोस दिशा प्राप्त हो सकी जिससे व्यापक तौर पर संगीत के कलाकारों को मार्गदर्शन प्राप्त हो सका।

अवकाशोत्तर स्थितियां

खैरागढ़ से अवकाश ग्रहण करने के उपरांत अण्णासाहब सीधे बंबई चले आए और इतने अरसेतक बिछड़े हुए अपने परिवार के साथ रहने लगे। उनकी अवकाशोत्तर गतिविधियों का बयान करने से पहले एक बात पर ध्यान दिलाना जरूरी है कि ३४ वर्ष की प्रदीर्घ महाविद्यालयीन उच्चपदवाली नौकरी के बावजूद अण्णासाहब आर्थिक दृष्टि से एकदम कोरे ही थे। न तो मैरिस कॉलेज से उन्हें कोई ग्रेच्युइटी या पेन्शन मिली और न खैरागढ़ विश्वविद्यालय की अत्यल्प कालावधि की सेवा के कारण उन्हें कोई राशि मिल सकी। दूसरी बात यह है कि उम्र की ऐन पचीसी में ही आखिर तक दूर प्रदेश में रहने के कारण बंबई के माहौल से उनका संपर्क टूट-सा गया था। एक तीसरी बात भी थी कि बंबई पहुंचने पर कुछ कालावधि में ही अण्णासाहब को मर्मांतक मानसिक पीड़ा पहुंचानेवाले एक अनुभव से गुजरना पड़ा जब कि आकाशवाणी की ओर से उनके नाम गायन के कांन्ट्रैक्ट आने बंद हो गए। किंतु संयोगवश दो-एक सूत्र ऐसे भी जुड़ गए थे, जिनकी बदौलत उनके अवकाशोत्तर १३ वर्ष किसी हद तक सांगीतिक कामों में बीत सके। इनमें एक महत्त्वपूर्ण सूत्र था श्रीवल्लभ संगीतालय के निदेशक (डायरेक्टर) के रूप में उनकी ससम्मान नियुक्ति।

वस्तुत: आकाशवाणी के कार्यक्रम बंद होने के पीछे कोई तात्त्विक या वैधानिक कारण हो ही नहीं सकता था। यह सब भाग्य की विडंबना ही थी। इसे स्पष्ट शब्दों में कह देने में मुझे कोई संकोच नहीं लगता है कि इसके पीछे केवल वैयक्तिक वैमनस्य था और इस वैमनस्य को संगीत एक अत्यंत श्रेष्ठ तपस्वी और ज्ञानी गायक और उच्च कोटि के वाग्गेयकार की मानसिक हत्या करने तक तूल दिया गया था। और मैं यह भी स्पष्टतापूर्वक कह देना चाहता हूं कि इसके पीछे श्री बृहस्पति का हाथ था। डॉ. बालकृष्ण केसकर के जमाने से ही बृहस्पतिजी अण्णासाहब के विरोध में खड़े थे। ऑड़िशन की गतिविधियों में उन्हें कोई स्थान नहीं दिया गया था। इसका प्रतिशोध उन्होंने इस प्रकार चुकाया।

७२ घंटों का अविरत ' संगीत धारा ' कार्यक्रम संपन्न होने के पश्चात् मैरिस (भातखंडे) म्यूजिक कॉलेज के श्रुतिमंडल सदस्यों एवं अध्यापकों के साथ। (दाहिनी ओर आखिर में) डॉ. सुमति मुटाटकर के पिताश्री अंबर्डेकर

मैरिस कॉलेज का एक परिदृश्य: (रजत जयंती के अवसर पर, 1952) राय उमानाथ बली, राजाभैय्या पूंछवाले, अण्णासाहब तथा अध्यापकगण एवं छात्र

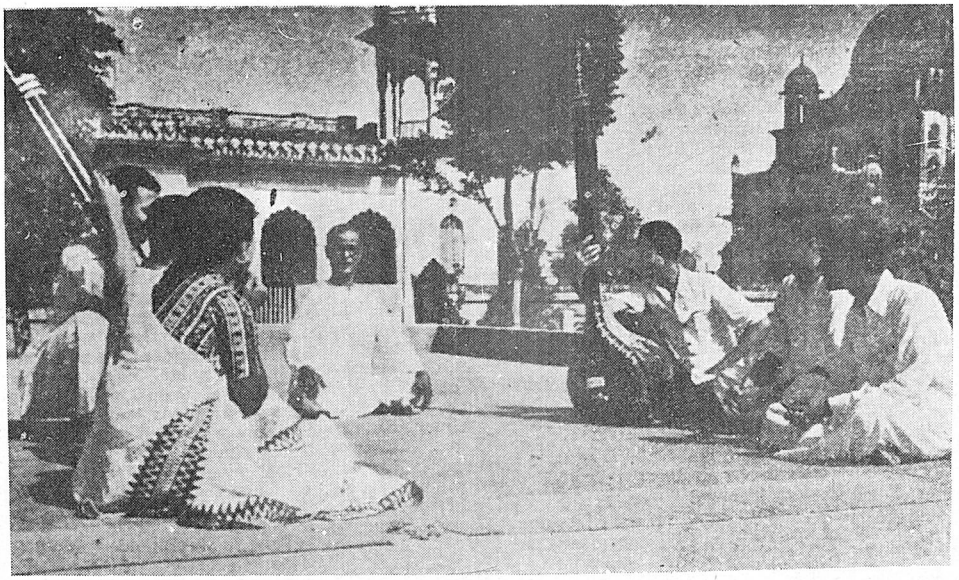

कॉलेज के खुले प्रांगण में गुरुशिष्य परंपरा का परिदृश्य

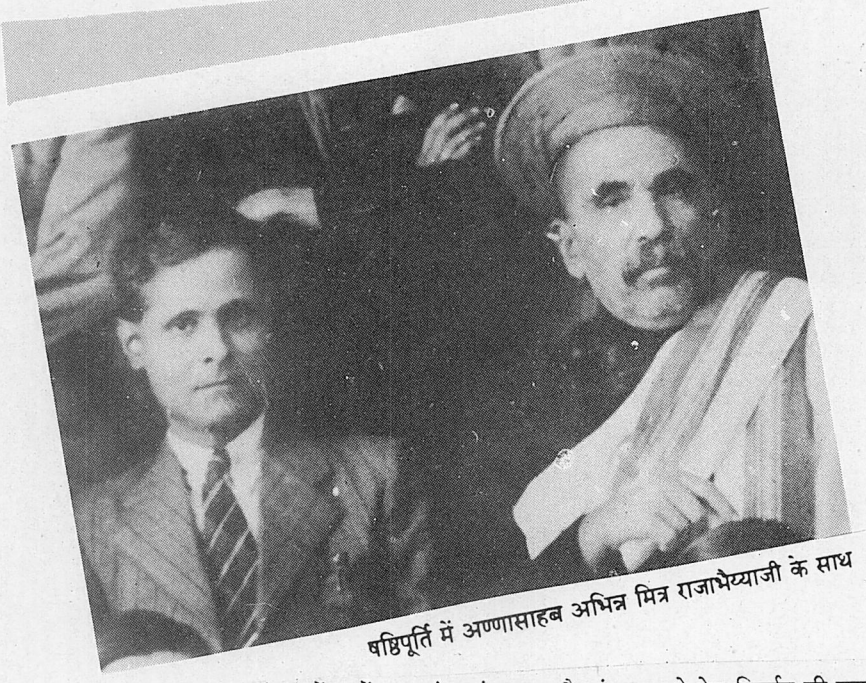

षष्ठिपूर्ति में अण्णासाहब अभिन्न मित्र राजाभैय्याजी के साथ

नोंकझोंक : पं. रातंजनकर और पं. पूछवाले वेष-विपर्यय की मुद्रा में

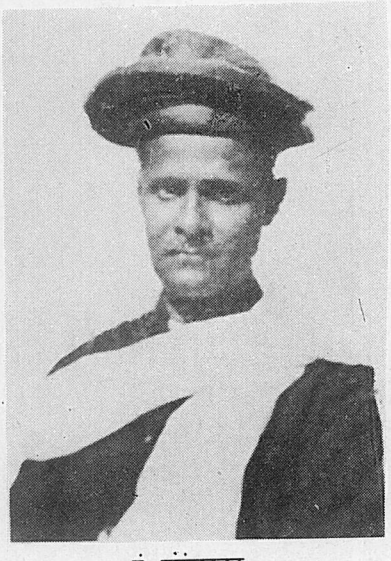

पं. रातंजनकर
राजाभैय्या के वेष में

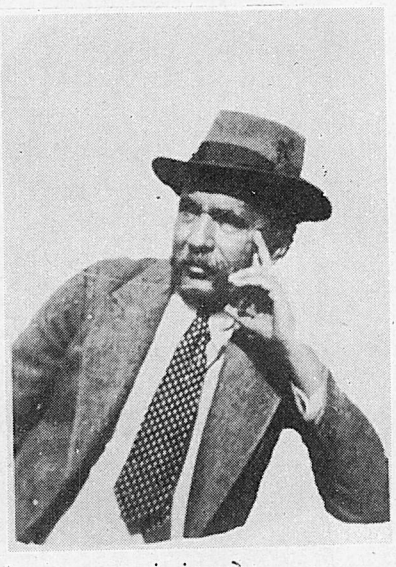

पं. पूंछवाले
रातंजनकर के वेष में

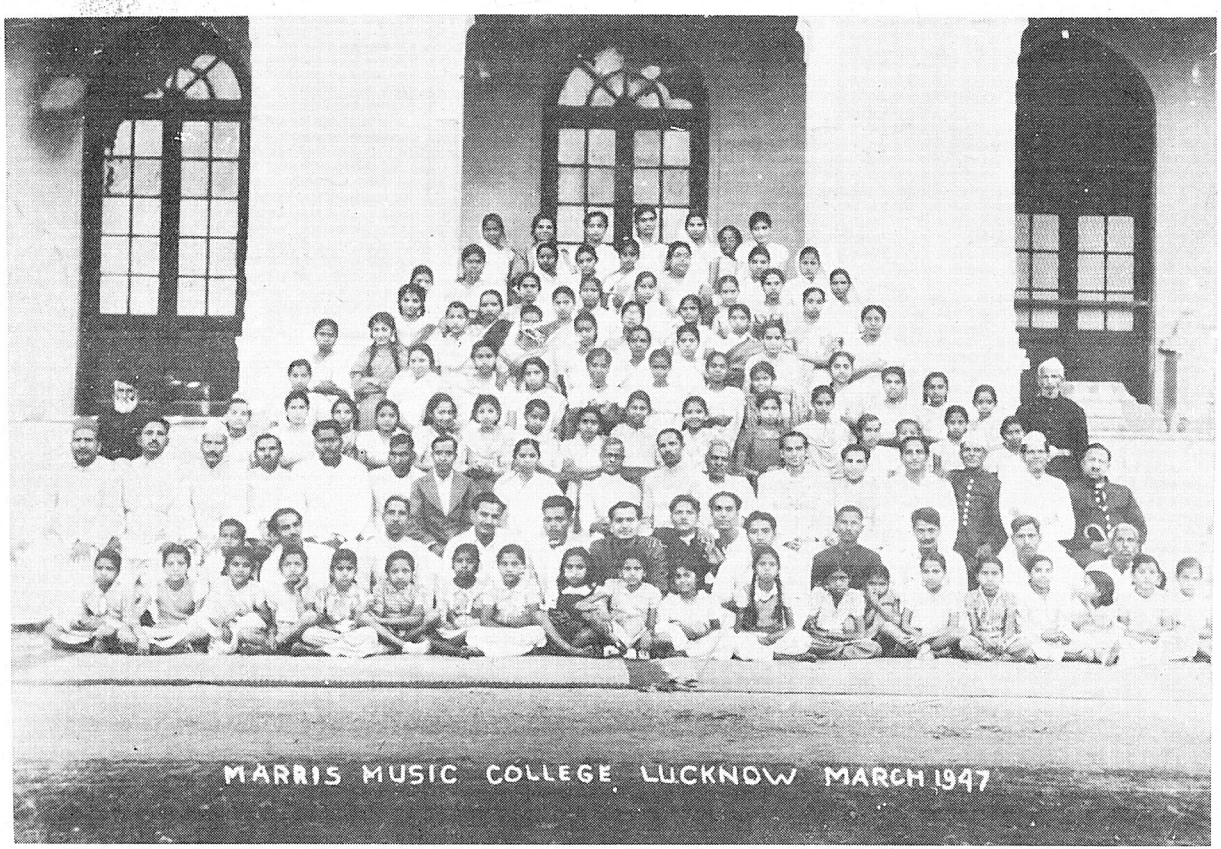

मैरिस कॉलेज, लखनऊ मार्च १९४७ : पं. गतंजनकर, अध्यापक तथा छात्रों समवेत

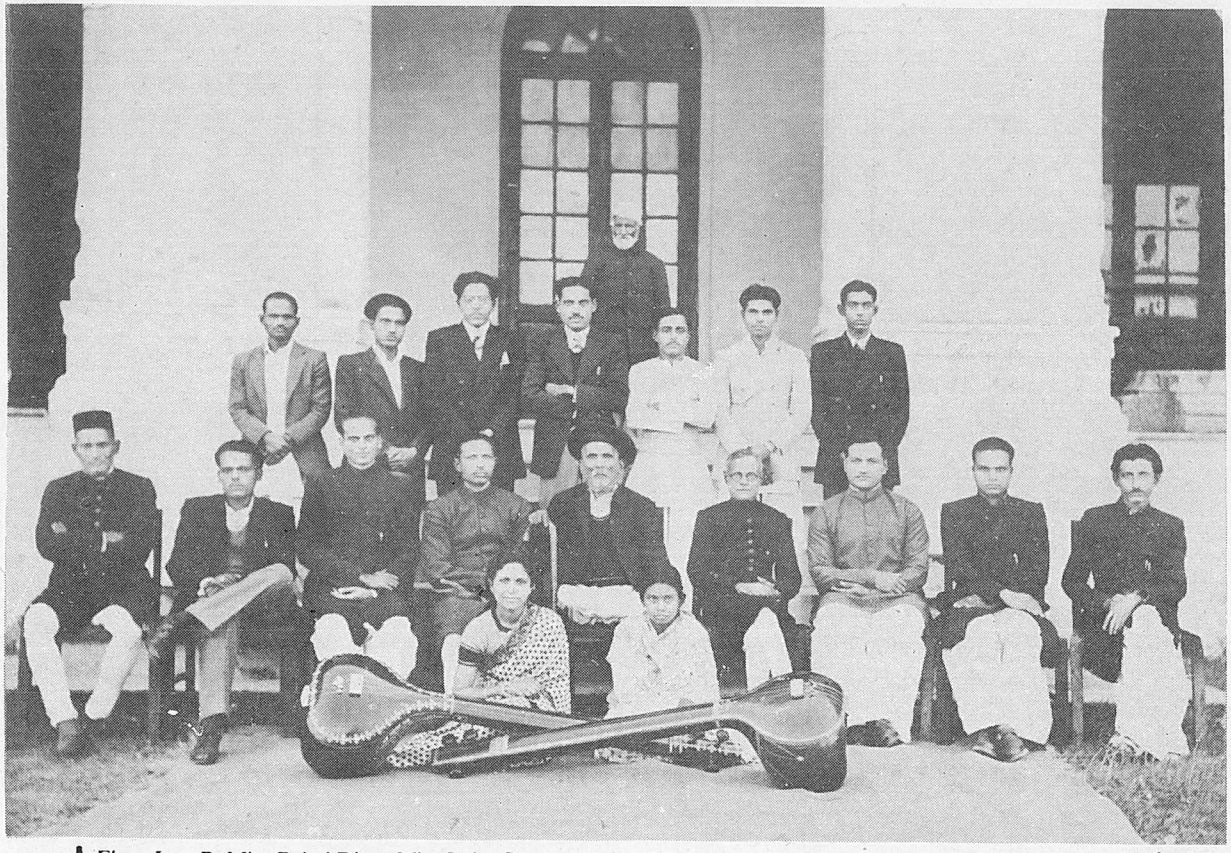

Floor L to R : Miss Bakul Dhar, Miss Indra Saxena
Chairs L. to R. : Shri Kotasthane, Profs. D. Goswami, M.S. Kalyanpurkar, G.N. Natu *(Vice-Principal)*, Raja Bhaiya Poochhwale *(Chief Examiner)*, S.N. Ratanjankar *(Principal)*, K.G. Ginde, S. Shukla, B.M. Tripathi.
Standing L to R. : C.L. Yadav, K.B.L. Johri, R.N.S. Lakhauria, G.B. Mathur, V. Bobde, *(4th Year)*, K. Lalji, V.V. Mahadane, Jamal Khan *(Peon)*

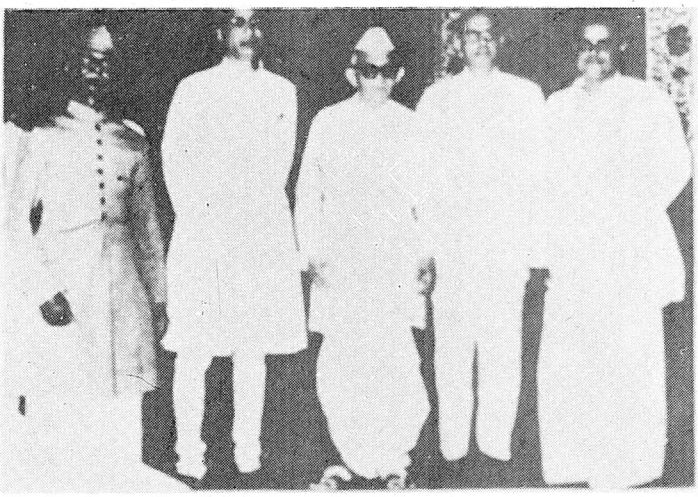

भारती विद्याभवन स्थापना
कुलपति कन्हैय्यालाल मुन्शीजी के साथ (बाएं से) पं. रातंजनकर, डॉ. बालकृष्ण केसकर, के. एस्. मलिक, चिदानंद नगरकर

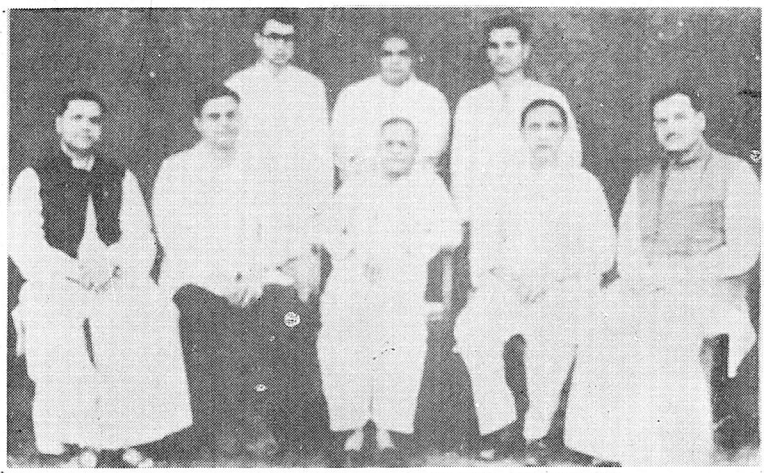

गुरुशिष्य परंपरा
बैठे हुए : (बाएं से) एस्.सी.आर.भट, चिदानंद नगरकर, पंडितजी, महमदखां (बीनकार), के. जी. गिंडे
खड़े - (बाएं से) वसंत पर्वतकर, के. बी. चौगुले, सी. आर. व्यास

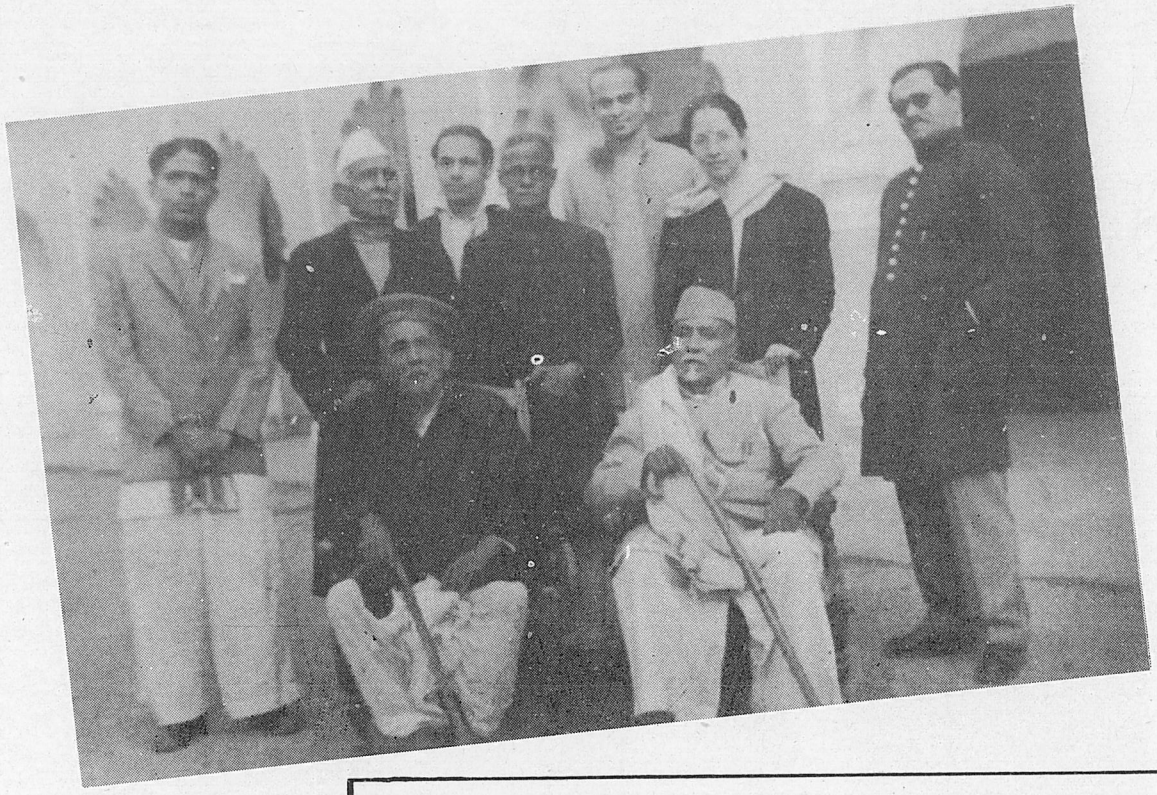

'शिष्टागमने परीक्षाध्यायः'— भातखंडे कॉलेज लखनऊ के परीक्षासंचालन के लिए विशेषागत विद्वानों के साथ अण्णासाहब, पं. राजाभैया पूंछवाले, अल्लाउद्दिनखां; (पीछे खड़े) : पं. गजाननराव जोशी, पं. सखारामजी; (आखिर में) उ. निसारहुसेनखां, पं. रातंजनकर और उनके बाएं पीछे पं. मोहनराव कल्याणपूरकर

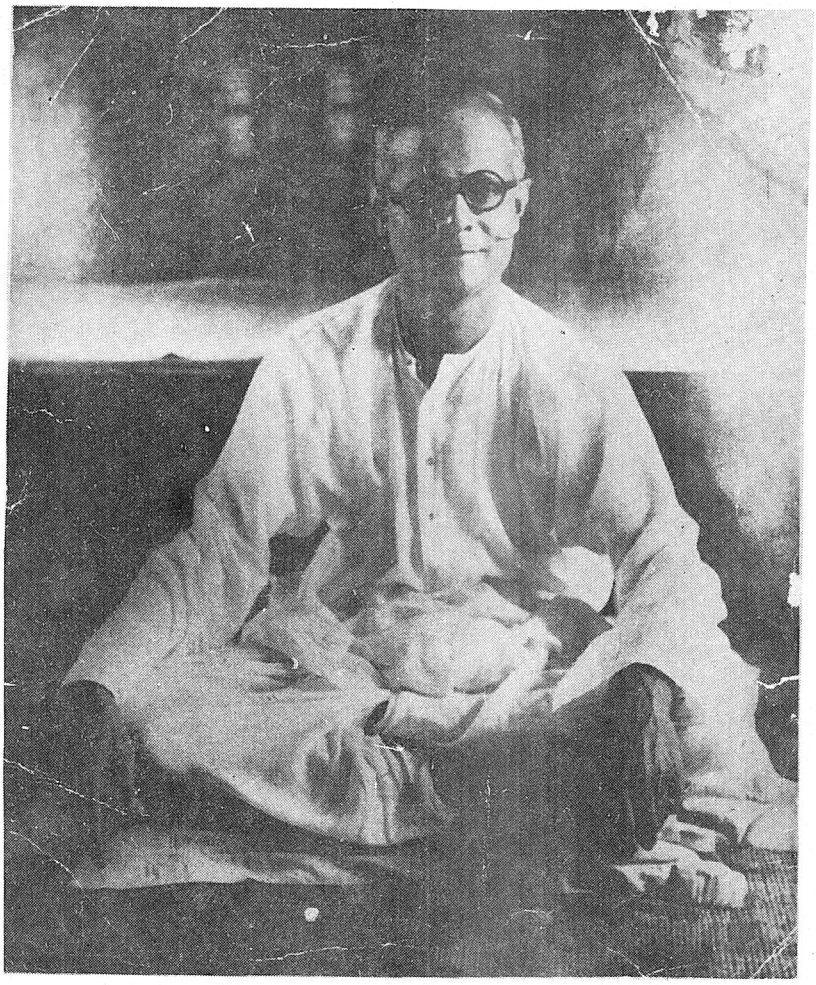

'**वास प्रधानम्**!' पंडितजी औपचारिक बंगाली भेस में....

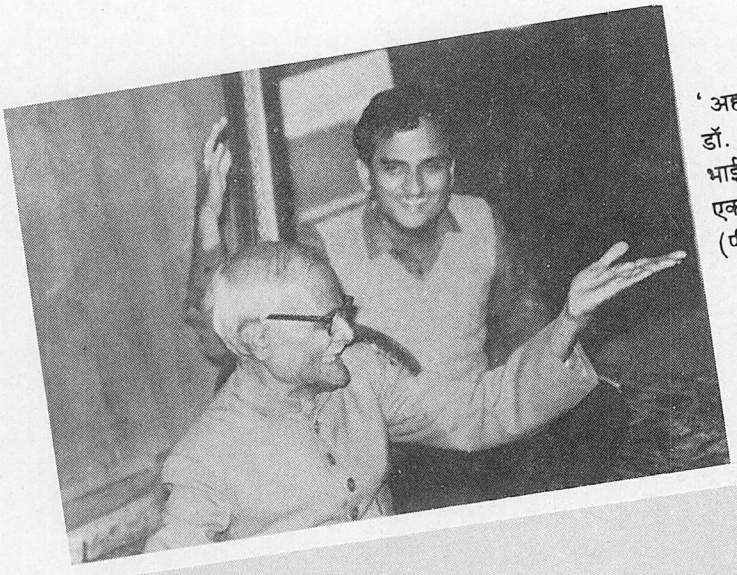

'अहा, कैसी उपज गई!'
डॉ. एम.आर. गौतम के
भाईसाहब के यहां (दिल्ली),
एक फरमाइशी प्रोगाम में
(पीछे दिनकर कायकिणी)

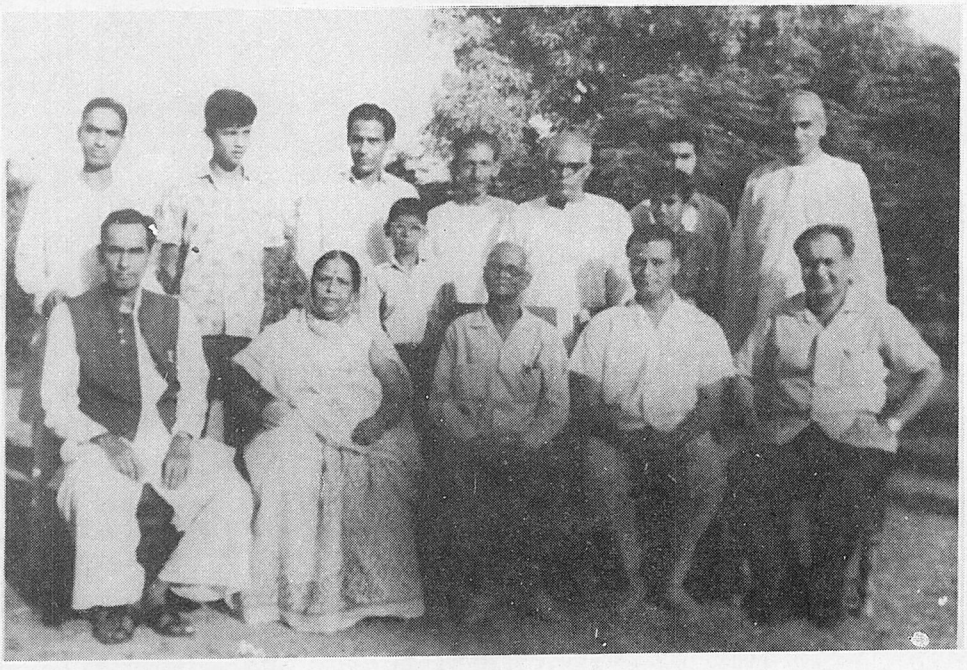

भातखंडे संगीत महाविद्यालय में बम्बई के पं. यशवंतबुवा जोशी के गायनोपरान्त —
स्वयं पं. जोशी, श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी, उ. हफीज अहमद खां, पं. वी. जी. जोग, पं. मोहनराव कल्याणपुरकर

'अथ स्वागतम्' गुरुवर पं. रातंजनकर छात्रसेनासमवेत
छात्रा : डॉ. सुमति मुटाटकरजी के साथ उनके निवास में

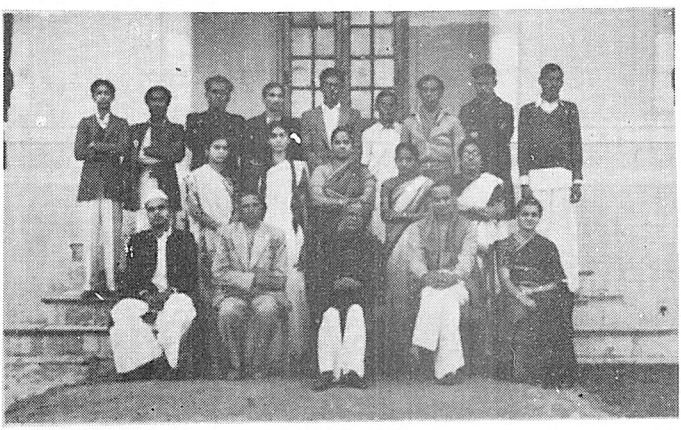

भातखंडे (मैरिस) कॉलेज १९५१ का 'विशारद'-दल :
'दलपति' पं. रातंजनकर और सहकर्मी श्री. शत्रुघ्न शुक्ल,
पं. जी. एम. नातू, पं. मोहनराव कल्याणपूरकर,
श्रीमती सुनीति कौशिक

राय उमानाथ बली, तत्कालीन गवर्नर तथा डॉ. रातंजनकर

पं. रातंजनकर जी के अभिनंदन के प्रसंग में

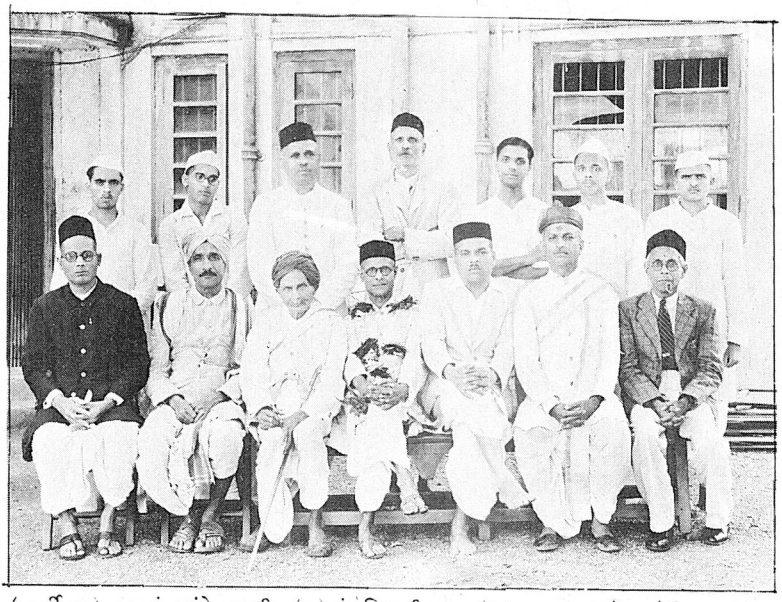

(कुर्सी पर) क्र. पं. तांबे शास्त्री, (२) पं. मिराशीबुवा, (३) .... (४) पं. रातंजनकर
(५) प्रो. ग. ह. रानडे, (६) सरदार आबासाहब मुजुमदार (७) .....
(खड़े) क्र. (१) .... (२) नारायण मोडक (३) पं. विनायकरावजी पटवर्धन,
(४) श्री. पंडित
(५) पं. एस्. सी. आर् भट, (६) पं. ना. वि. पटवर्धन, (७) श्री. गोविंद पांडुरंग जोशी

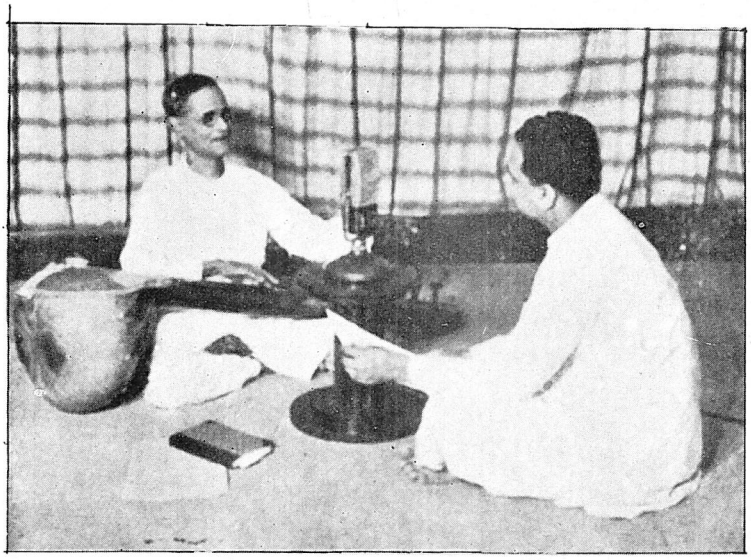

Dr. K. G. Ginde at &he feet of s Guru, Annasaheb

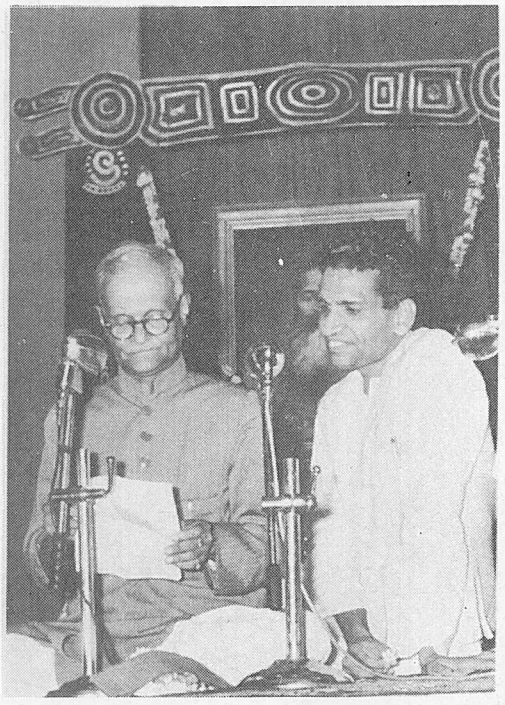

गां.म.वि. दिल्ली एक
समारोह में भाषण।
साथ में पं. विनयचंद्र

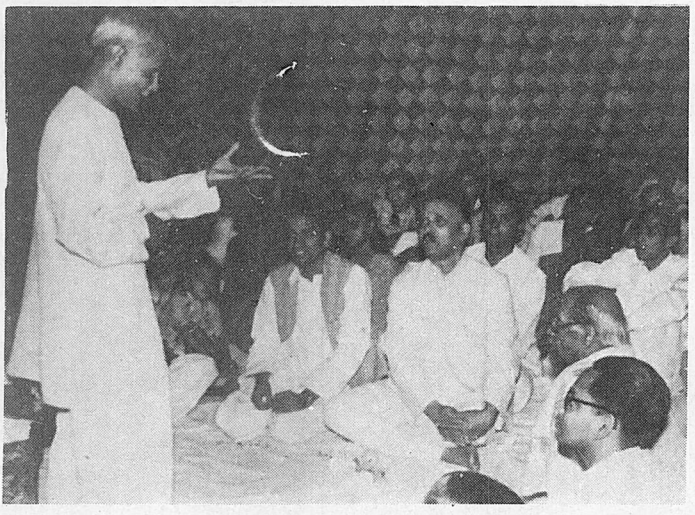

चर्चासत्र में एक विचारबिंदु पर पंडितजी उस बिंदु की
गंभीरता को आंकते हुए दिग्गज पं. विनायकराव पटवर्धन,
पं. कशालकर तथा अन्य सहभागी

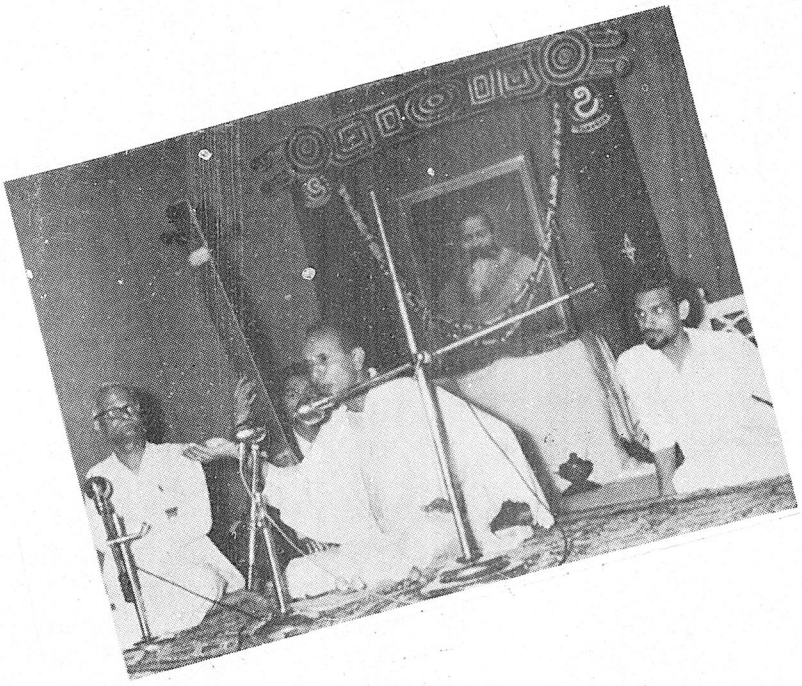

गां.म.वि. दिल्ली : **विचार गोष्ठी में भाषण** देते हुए
पं. दिलीपचंद्र बेदी (दाएं) पं. रातंजनकर, (बाएं) श्री प्रमोद मौद्गल्य

गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली :
एक संगोष्ठी में प्रतिपादन की मुद्रा में (१९५९)
साथ में पं. वि.रा. आठवले और
पं. विनयचंद्र

पं. रातंजनकर, अपने चचेरे भाई के साथ अपने मूल स्थान
जवळगांव (ता. बार्शी) में आयोजित छोटी महफिल में—

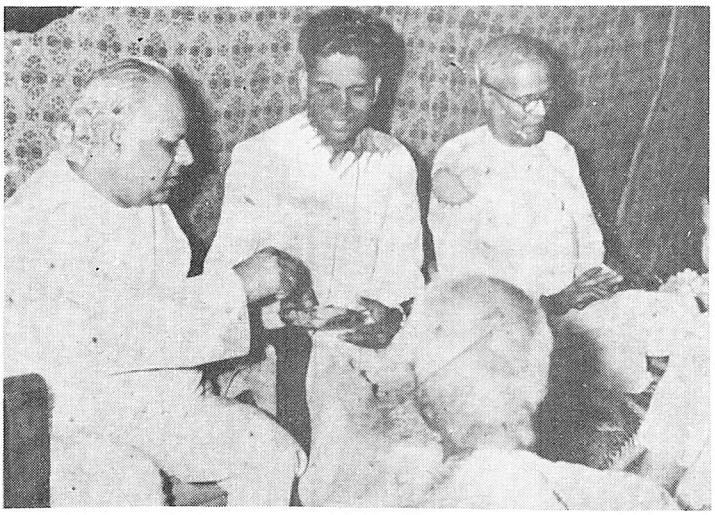

गांधर्व महाविद्यालय
एक समारोह में
दो महनीय एक साथ
पं. ओंकारनाथ,
पं. रातंजनकर,
बीच में
पं. विनयचंद्र (प्राचार्य)

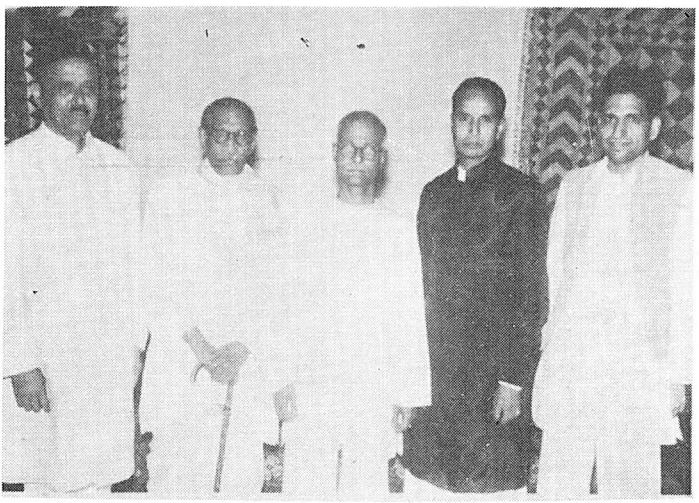

गांधर्व महाविद्यालय के
एक कार्यक्रम में
पंडित चतुष्टय,
पं. विनायकराव पटवर्धन,
पं. वी.ए. कशाळकर,
पं. रातंजनकर,
पं. दिलीपचंद्र वेदी तथा पं. विनयचंद्र मौदगल्य (प्राचार्य)

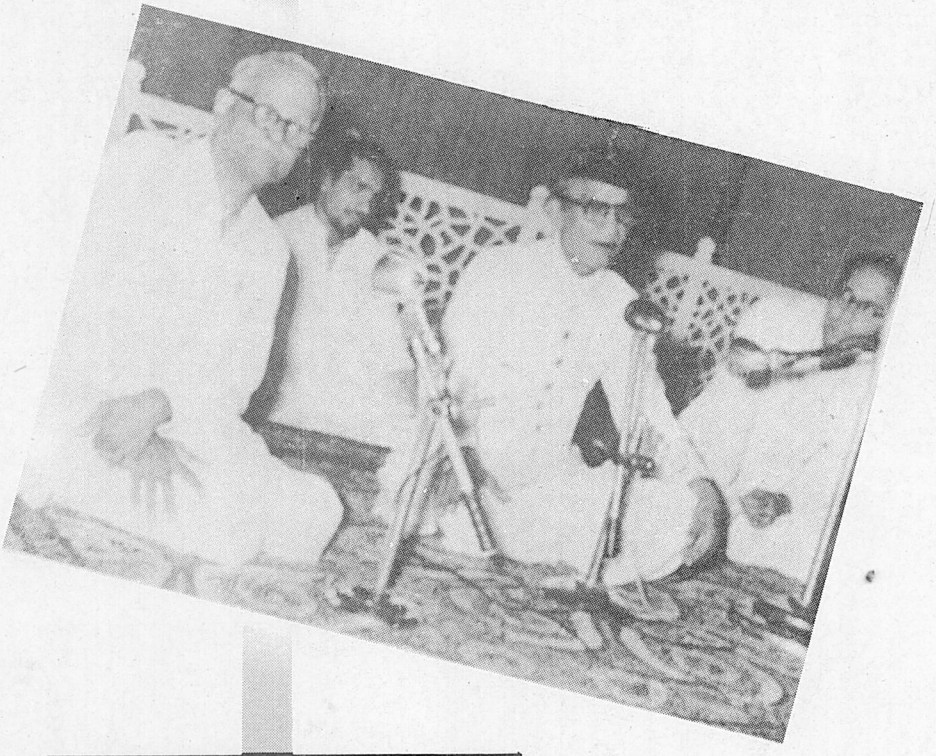

गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली, विचारगोष्ठी
एक सत्र में सहभागी होते हुए
पं. रातंजनकर, उस्ताद चांदखां तथा
पं. वि. रा. आठवंले

गांधर्व महाविद्यालय में संगीतविषय पर भाषण में पं. रातंजनकर अपने मुद्दे को रेखांकित करने की मुद्रा में– (पं. विनयचंद्र तथा ठाकुर जयदेवसिंह की उपस्थिति में)

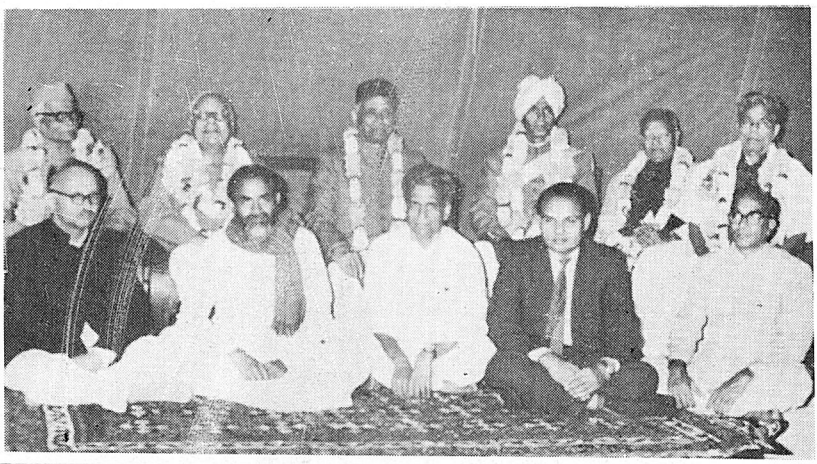

गांधर्व महाविद्यालय द्वारा आयोजित सामूहिक अभिनंदन समारोह में (कुर्सीपर बाएं से) पं. रातंजनकर, पं. ओंकारनाथ, पं. विनायकराव, पं. अंतुबुवा जोशी तथा पं. गोविंदराव बऱ्हानपुरकर (नीचे मध्य में) पं. विनयचंद्र मौदगल्य

हैदराबाद संगीत विश्वविद्यालय में महफिल (१९६१) (तबला) शेख दाऊद खां,
(तानपूरा) ज्ञानेश्वर रातंजनकर, दंताळे, (सारंगी) गुलाम महमद

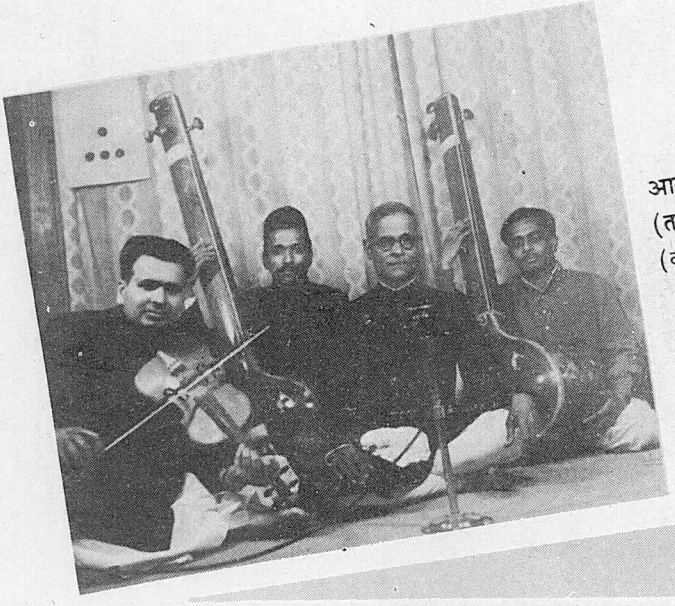

आकाशवाणी अहमदाबाद
(तानपूरा) दंताळे, वसंत बोबडे
(वायलिन) वी.जी. जोग

अनौपचारिक मेलमिलाप

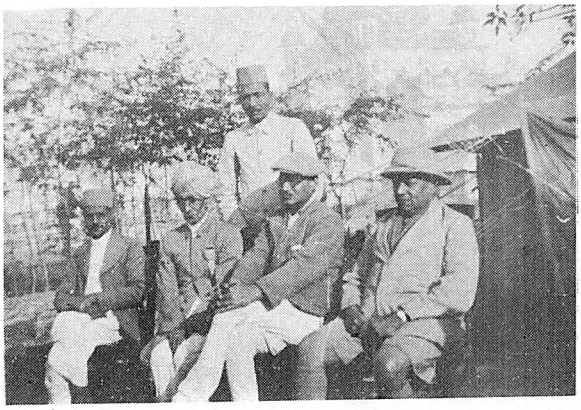

मैरिस म्यूजिक कॉलेज : १९३६

आचार्य रातंजनकर, पं. वाडीलालजी, रायसाहब, पं.पी.बी. जोशी, (प्रधानाध्यापक गवर्मेंट हायस्कूल, अजमेर), डॉ. जी. आर. गिंडे (बैलहोंगल) (पं.के.जी. गिंडे के पिताश्री), (खड़े) पं. वाडीलालजी के एक सुहृद श्री केदार भातखंडे

छात्रमिलाप

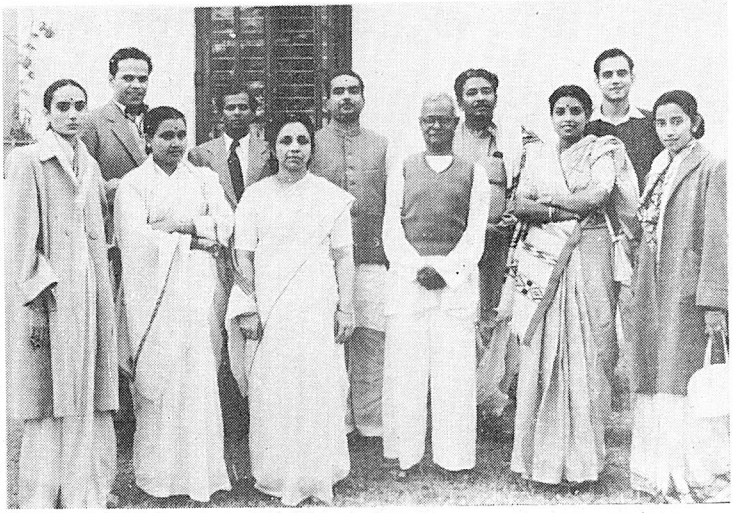

भातखंडे (मैरिस) कॉलेज में (१९५५-५६)
अपने कतिपय छात्र-छात्राओं के साथ आचार्यदेव

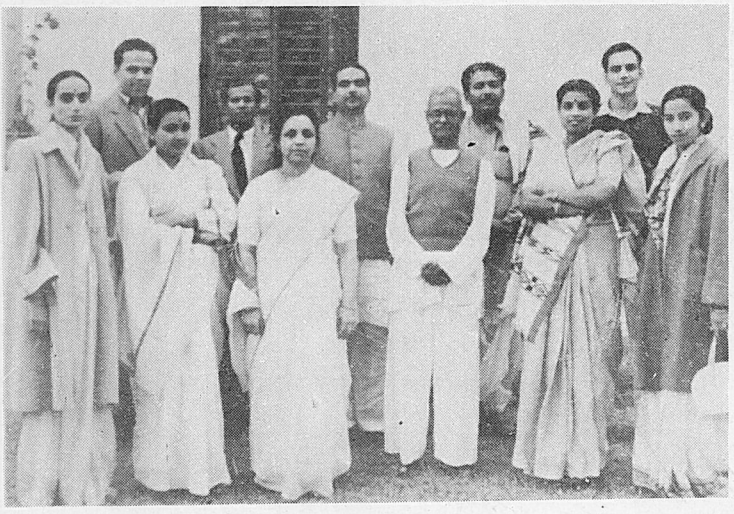

छात्रमिलाप—
भातखंडे (मैरिस) कॉलेज में (१९५५-५६)
अपने कतिपय छात्र-छात्राओं के साथ आचार्यदेव

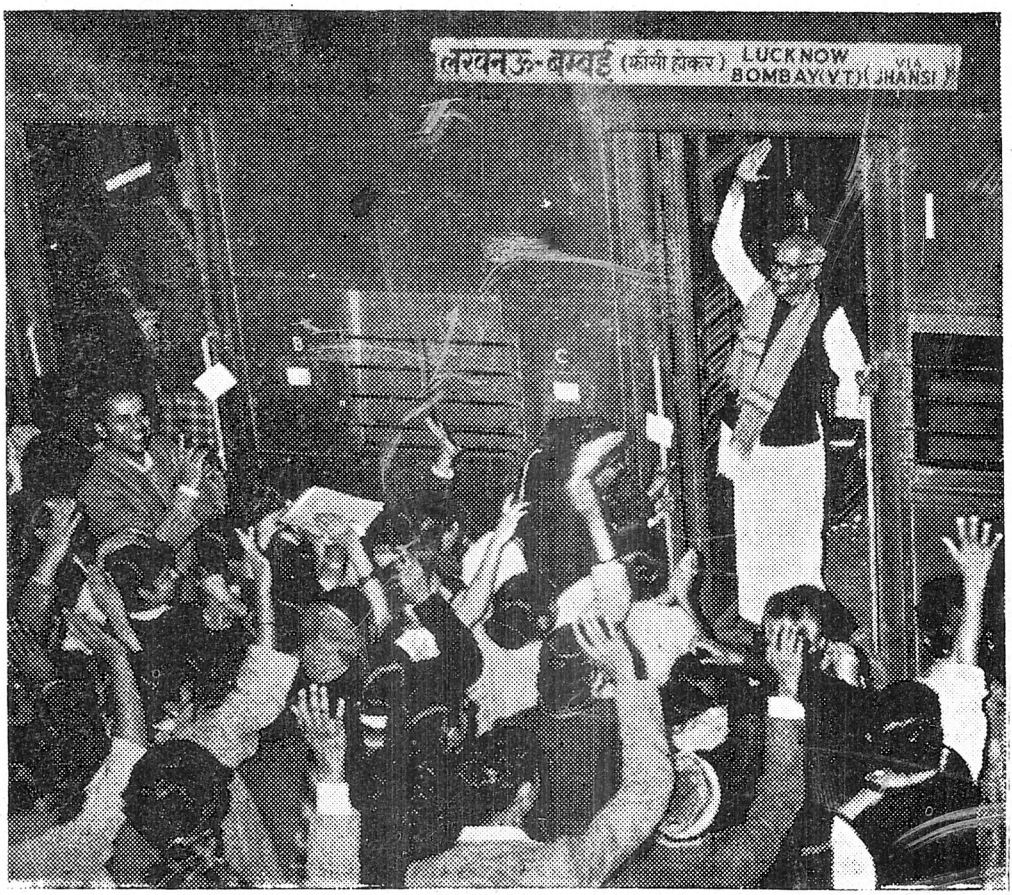

Biddling farewell to his students of Lucknow to assume charge of Vice Chancellorship of Indira Kala Sangeet Vishwavidyalaya, Khairagarh.

विदा का क्षण !

जब प्रोग्राम्स आने बंद हुए तब हम शिष्य लोग भी अचंभे में पड़ गए। मैंने बंबई केंद्र पर जाकर पूछताछ की तब बताया गया कि ऊपर से ऑर्डर आया है कि डॉ. एस्. एन. रातंजनकर को भविष्य में कार्यक्रम न दिए जाएं। बंबई केंद्र पर उस समय संभवत: हाफिज अहमद खां – सहसवां घराने के जाने माने गायक- 'प्रोड्यूसर' थे। खांसाहब तो पहले से ही अण्णासाहब को बेहद चाहनेवालों में एक थे। किंतु ऊपर से आदेश आ जानेपर वे भी क्या कर सकते थे! आगे चलकर खांसाहब भी 'डाइरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स' हो गए, किंतु तब तक अण्णासाहब का निधन हो चुका था।

मुझे इस संदर्भ में यह कह देना आवश्यक लगता है कि डॉ. केसकरजी के मिनिस्ट्री से हटने के बाद रातंजनकर और भातखंडे परंपरा के गायकों को आकाशवाणी के सम्मानित कार्यक्रमों से वंचित रखने की एक परिपाटी ही बन गई, जिसका शिकार हम उस परंपरा के बहुतांश गायक आजतक हुए हैं। मुझीको लीजिए। अर्सेसे मेरी टॉप क्लास आर्टिस्ट के रूप में मान्यता है, संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार भी मुझे मिला, कलकत्ते के म्यूजिक रिसर्च सेंटर के साथ मैं बराबर जुड़ा हुआ हूं, किंतु १५-१६ वर्षों में राष्ट्रीय कार्यक्रम में मेरा गायन प्रस्तुत नहीं हुआ है। और यही हाल हमारे कतिपय गुरुबंधुओं का है। हां, लेकिन मैं यहीं पर यह भी रेखांकित कर देना चाहता हूं कि हम सभी भातखंडे परंपरा के गायकों ने संगीत की साधना धन या मान की अपेक्षा से कभी की ही नहीं थी और न हमने किसीके सामने हाथ फैलाया है। पं. भातखंडे और पं. रातंजनकर जी से उच्चतम संगीतज्ञान का जो प्रसाद हमने पाया है उसमें हम परितृप्त हैं। और गुरुकृपा के फलस्वरूप हम सभी गुरुभाइयों का सांगीतिक जीवन सफल ही रहा है। मुद्दा जो उठा था वह व्यक्तिगत वैमनस्य को नाजायज रूप में तूलकर सार्वजनिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में किसीको नष्ट कर देने की मनुष्यताहीन प्रवृत्ति को लेकर था।

किंतु इस घटना का परिणाम अण्णासाहब के मानसिक स्वास्थ्य पर हुए बिना नहीं रहा। उन्होंने प्रकट रूप से गायन करने से ही हाथ खींच लिया। स्वभाव से मितभाषी और अंतर्मुखी प्रवृत्ति के होने की वजह से उन्होंने खुले तौर पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, किंतु बैठकों में गाना सुनाना उन्होंने बंद कर दिया। आग्रह हो जानेपर कहते–"मेरा क्या गाना, मेरे ये शागिर्द गाएंगे, उनका गाना सुनिए" हां, संगीत-चर्चाओं में सहभागी होते रहे और अपनी मूलभूत रचनात्मक प्रतिभा के कारण बंदिशों की रचनाएं करने में अपना समाधान पाते रहे।

संगीतालय की पृष्ठभूमि

श्रीवल्लभ संगीतालय के साथ अण्णासाहब का जो आपस में संबंध प्रस्थापित हुआ उसके पीछे अनेक घटनाएं जुड़ी हुई हैं। यों इन घटनाओं से अण्णासाहब का कोई सीधे ताल्लुक नहीं था, मैं और मेरे गुरुभाई एस्.सी.आर. भट ही उनमें थे; परंतु अण्णासाहब के श्रीवल्लभ संगीतालय के निदेशक पद पर नियुक्त हो जाने के पीछे ये घटनाएं अप्रत्यक्षत: कारणीभूत हुई थीं। उन सबका यहां संक्षेप में बयान करना आवश्यक है।

श्रीवल्लभ संगीतालय १९५० से बंबई के सायन विभाग में संगीत-शिक्षा के कार्य में संलग्न है। इस संगीतालय का निर्माण मूलत: उस्ताद फैयाज हुसेन खांसाहब की प्रेरणा से हुआ और उसके निर्माता और विधाता स्वामी श्रीवल्लभदास रहे, जो कृष्णभक्ति परंपरा के अंतर्गत गुजरात में स्थित स्वामीनारायण संप्रदाय के साधु और महंत थे और संगीत में उस्ताद फैयाजहुसेनखां

के शागिर्द थे। मैं और पं. भट हम दोनों इसी संगीतालय में सेवा कर रहे थे जब १९६१ में अण्णासाहब अवकाश ग्रहण करके बंबई पहुंचे। मैं उस समय वहां प्रधानाचार्य था और पं. भट भी ज्येष्ठ अध्यापक थे।

अब हमारा संबंध श्रीवल्लभ संगीतालय से जुड़ जाने के बारे में भी बताना होगा। सन १९५१ में मैं लखनऊ से बंबई आ गया और भारतीय विद्याभवन के तत्त्वावधान में संचालित भारतीय संगीत और नर्तन शिक्षा पीठ में संगीत अध्यापक के नाते काम करने में लग गया। इस शिक्षा-पीठ का निर्माण १९४८ में विद्याभवन के कुलपति डॉ. कन्हैय्यालाल मुंशी के नेतृत्व में हुआ था। इस शिक्षापाठ की परामर्श-दाता समिति के उपाध्यक्ष अपनी आयु के अंत तक अण्णासाहब ही थे। यह संस्था अबतक भातखंडे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ से ही संलग्न है। प्रधानाचार्य हमारे ही गुरुभाई पं. चिदानंद नगरकर थे। वहां आगे चलकर पं. सी. आर.व्यास भी शामिल हो गए, जो समानांतर तौर पर मुझसे प्रगत गायन के लिए परामर्श लेते थे। तबला-पंडित श्री तारानाथ भी विद्याभवन से जुड़े हुए थे और स्वामी श्रीवल्लभदास जी से उनका घनिष्ठ परिचय था। तबले पर स्वामीजी की संगत करने वे हमेशा जाया करते। उनके साथ रहते हुए हमें भी स्वामीजी का गायन सुनने के अनेक अवसर मिले और हमें बड़ा सुख और आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी के गायन में हमारे एक दादागुरु उस्ताद फैयाजहुसेन खां की प्रतिमा बखूबी झलक उठती।

धीरे धीरे स्वामीजी से मेरा भी परिचय बढ़ा और उनकी संगीत-साधना के बारे में मालूम हुआ कि शुरू में आप जयपुर में जमालुद्दीन बीनकार के सुपुत्र खां आबीद हुसैन के पास गाना सीखते थे। कुछ अर्से बाद जमालुद्दीनजी की नियुक्ति बड़ौदा में राजवादक के रूप में हुई तो आबीद हुसैनखां भी साथ हो लिए। तब स्वामीजी ने बड़ौदा में अपनी संगीत शिक्षा को जारी रखा। बड़ौदा जाने पर खांसाहब फैयाजहुसेन का गायन सुनने का अवसर मिलना स्वाभाविक ही था। हर सप्ताह में एक बार राजघराने के दिवंगत व्यक्तियों की छतरियों के सामने शाही बगीचे में खांसाहब के गाने की 'ड्यूटी' रहती थी। स्वामीजी ने वहां उनका गाना सुना और मन ही मन निश्चय कर लिया कि हम गायन सीखेंगे तो इन्हींके पास। उसके मुताबिक उस्तादजी से वे मिले। तब खांसाहब ने उसमें से जरिया यह निकाला कि-"बाबाजी, आपके मठ में आकर मैं आपको सिखा नहीं पाऊंगा। आप तालीम मेरे ही शागिर्द अता हुसेन के पास लीजिए और हर मौका लेकर मेरा गाना सुना कीजिए।" स्वामीजी का इरादा इतना पक्का था कि उन्होंने इस व्यवस्था को स्वीकार किया और 'एकलव्य' साधना के तौर पर अपना सारा चित्त खांसाहब की गायकी में ही लगाकर उनकी शैली को भलीभांति आत्मसात् कर लिया।

इसी बीच एक बात ऐसी हुई थी कि स्वामीजी के अनेक भक्तों में से श्री दामजीभाई ठक्कर नामके एक सज्जन थे, जिन्होंने भक्तिभाव से सायन विभाग में स्थित ३३०० चौ. फीट जगह स्वामीजी को दान में दे दी थी। फैयाजखांसाहब को इसके मालूमात थे; तो खांसाहब ने स्वामीजीसे कहा कि बाबाजी अब मेरे भी दिन ढल चुके हैं। आप वहां बंबईवाली जगह में एक आश्रम बना दीजिए, मैं अपने अंतिम दिन वहीं पर बिता दूंगा। स्वामीजी भी शायद यही चाहते थे; क्योंकि अल्पावधि में १९५० तक वहां पर दो कमरोंवाला एक आश्रम बन गया। वह जगह उस काल में शहर से अत्यंत दूर निहायत एकांत से युक्त थी। लोग-बाग उसे 'भूत एरिया' कहकर पहचानते थे!

१९५० को विजयादशमी के दिन गुजराती के महान साहित्यकार राष्ट्रभक्त काकासाहब कालेलकर जी की अध्यक्षता में श्रीवल्लभ संगीत-आश्रम का उद्घाटन हुआ। उल्लेखनीय बात यह है कि उस्ताद फैयाजहुसेना खां बदन में १०२° का बुखार रहते हुए भी उस समारोह में पधारे थे और वहां गाए भी थे। इसके बाद दुर्भाग्यवश खांसाहब का अंतकाल हो गया। तो इस प्रकार आश्रम का श्रीगणेश हो जाने के बाद स्वामीजी ने उस जगह पर श्रवण-शिक्षा की प्रवृत्ति चला दी। रोज वे खुद गाने के लिए बैठ जाते थे और श्रोताओं को मुक्तद्वार दे रखा था। फिर उसमें अलीअकबर खां, अनंत मनोहर जोशी आदि आदि गण्यमान्य कलाकारों के भी कार्यक्रम होने लगे। तब स्वामीजी के मित्रों और हितैषी ने उन्हें यह सुझाव दिया कि यहां पर संगीत विद्यालय के साथ साथ आप एक सर्वसाधारण शिक्षा विद्यालय भी खोलिए और उसकी एक प्रवृत्ति के रूप में संगीत-शिक्षा की व्यवस्था करवा दीजिए; आपको आर्थिक सहायता भी मिलेगी और संगीत का प्रसार भी होगा। उसके अनुसार सन १९५८ में 'श्रीवल्लभ शिक्षण संगीत आश्रम' नाम से संस्था का ट्रस्ट एक्ट के अंतर्गत पंजीकरण हुआ और तत्पश्चात् संस्था श्रीवल्लभ संगीतालय के नाम से अद्यावधि कार्य कर रही है।

इस तरह प्रकारांतर से यह संगीत संस्था रातंजनकर परिवार के अंतर्गत ही आती है। इसीलिए हम सबके मन में संस्था के प्रति विशेष आस्था का भाव था और जब वहां पर सेवा करने का अवसर हमारे सामने आया तब हम तुरंत प्रस्तुत हो गए। १९५७ तक तो मैं भारती विद्या भवन में ही था। किंतु वहां अण्णासाहब की ही मध्यस्थता से एक दूसरे कार्य में भी मैं व्यस्त हो गया था। बंबई में रेव्हरंड फादर प्रॉक्श (Proksch) नामके एक जर्मनभाषी कॅथालिक पादरी अंधेरी उपनगर में अपना ध्यानाश्रम चलाया करते थे। वे हिंदी के भी काफी जानकार थे और उन्होंने 'ग्यान प्रकाश शर्मन्' नाम भी धारण किया था। संगीत भी अच्छा जानते थे। वे लखनऊ गए थे तब अण्णासाहब से मिलना स्वाभाविक ही था। उन्होंने कॉलेज देखा तब विश्वास हो गया कि प्रिन्सिपलसाहब सचमुच ही बड़े अधिकारी व्यक्ति हैं। उन्होंने अण्णासाहब से कहा कि मैं हिंदुस्तानी संगीत सीखना चाहता हूं। किससे सीखा जाए? तब गुरुवर ने उन्हें बताया कि आप बंबई जाइए मेरा एक शिष्य वहां है, उससे संपर्क कीजिए वह आपकी सहायता करेगा। तदनुसार वे मुझे खोजते हुए भारती विद्या भवन पहुंचे। उसके बाद उनका और मेरा संबंध काफी दृढ़ हो गया। उन्होंने अपने जो प्रार्थनागीत तर्ज के साथ बनाए थे, उनमें संशोधन करने उनकी स्वरलिपि बनाने आदि का काम मुझे करना था। वह सिलसिला चल पड़ा; यहां तक कि १९६० की जर्मनी में संपन्न यूकॅरिस्ट कॉन्ग्रेस के समारोह में आप मुझे अपने साथ ले गए थे। खैर, कहने का मतलब यह कि १९६० के लगभग मैं विविध कार्यों में व्यस्त था।

मेरे ये काम इतने बढ़ गए थे कि मैं १९५७ में भारतीय विद्या भवन की नौकरी से अलग हो गया। ठीक इसी काल में मेरे उस समय के शिष्य और सहयोगी श्री सी. आर. व्यासजी ने मुझे प्रस्ताव दिया कि आपको श्रीवल्लभ संगीतालय से जुड़ जाना ही चाहिए। यहां आपकी बहुत जरूरत है। हुआ यह कि स्वामी श्रीवल्लभदासजी अपने संगीताश्रम के वास्ते धनार्जन के लिए प्राय: विदेशों में दौरे पर रहते थे। तो प्रधान अध्यापक का कार्यभार चलाने के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता थी। बीच में श्री एल्. बी. पाटकर (टाइम्स ऑफ इंडिया के अवकाश प्राप्त अधिकारी) इस पद को संभालते रहे; यह १९६५ की बात है। उस समय मैं जर्मनी से

लौटा था; और मेरी कोई नौकरी नहीं थी। उसके पूर्व डॉ. श्रीमती सुमति मुटाटकर के भाई डॉ. अंबर्डेकर के साथ मैं पं. भट आदि स्वामीजी के आश्रम को देखने गए थे। तो इस प्रकार का अवसर आ जाने पर पाटकरजी के स्थान पर मैं प्रधान अध्यापक के रूप में विद्यालय में आ गया। उस वक्त स्वामीजी तो दौरे पर ही थे। मैं अपने साथ अपने गुरुभाई पं. भट को भी विद्यालय ले आने में सफल हुआ था। १९६१ में स्वामीजी दौरे से आए; हम दोनों को वहां पाकर हर्षातिरेक से गले लगा लिया और कहा कि अब मैं चिंतामुक्त हो गया हूं। लेकिन जब उन्हें इस बात का पता चला कि मैं साधारण शिक्षक के सिर्फ १७५ रु. ही वेतन पर ही वहां काम करने लगा हूं, तब उन्हें कुछ पीड़ा हुई। किंतु आश्रम की आर्थिक स्थितियां उतनी अनुकूल नहीं थीं। फिर भी उन्होंने ३०० रु. तक मेरी तनखा बढ़ा दी और आगे चलकर वह रु. १२०० तक बढ़ती गई।

अस्तु, इस प्रकार मैं और भटसाहब श्रीवल्लभ संगीतालय में काम कर रहे थे, तो १९६१ में अण्णासाहब का बंबई आगमन हुआ। स्वामीजी से उनका पहले से ही परिचय था। इस नई व्यवस्था को देखकर वे भी प्रसन्न हुए। संगीतालय में उनका आना-जाना शुरू हो गया। मैं जब कक्षा लेता तो आप वहां अक्सर आकर बैठने लगे। इसी बीच स्वामीजी के मन में विचार आया कि क्यों न डॉ. रातंजनकरजी को भी संगीतालय से संबद्ध किया जाए। उन्हें संकोच इस बात का था कि इतनी बड़ी हस्ती को हम क्या दे सकेंगे । कैसे उनके पद के अनुकूल राशि उन्हें दे पाएंगे। उन्होंने मुझसे बात छेड़ी तब मैंने उन्हें उनकी आर्थिक स्थिति के बारे में बता दिया। तब तो उनका निश्चय पक्का ही हो गया और अण्णासाहब को श्रीवल्लभ संगीतालय संस्था के निदेशक के रूप में पूरे सम्मान के साथ और माहवार मानधन के साथ नियुक्त किया गया। इससे आश्रम के साथ उनका संपर्क और अधिक घनिष्ठ हो गया। किंतु अपने नि:स्पृह स्वभाव के कारण उन्हें यह बात अखरती थी कि मैं कोई काम तो यहीं करता नहीं और यह वेतन और पद किसलिए? उनकी इस तरह की शिकायत पर स्वामीजी ने उनसे कहा कि आपका अधिष्ठान ही हमारे लिए सब कुछ है, फिर भी आपको हम काम भी सौंपते हैं। आप मुझे संगीत की प्रगत शिक्षा देते रहिए! कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब समझाने की बात थी; फिर भी अण्णासाहब और स्वामीजी के बीच घंटों संगीत का रियाज और चर्चाएं चलती रहती थीं। वैसे डाइरेक्टर के पद पर वे नियुक्त हुए सन १९६२ में। किंतु यह सिलसिला बीच में एक विशेष कारण से डेढ़-दो वर्षों के लिए टूटा था। १९६२ में ही लखनऊ के भातखंडे संगीत कॉलेज के प्राचार्य की जगह रिक्त हो गई थी। तब नए प्राचार्य की नियुक्ति तक मध्यावधि व्यवस्था के तौर पर डेढ़ वर्ष के लिए अण्णासाहब को पुनश्च लखनऊ बुलाया गया था। यह नियुक्ति अनुबंध पर (Contract basis) आधारित थी। लखनऊ के इस डेढ़ वर्ष के कार्यकाल में अण्णासाहब के लिए कोई विशेष कार्य करने की गुंजाइश ही नहीं के बराबर थी। क्योंकि सन १९५८ से भातखंडे संगीत महाविद्यालय का सारा कारोबार शासन को सौंप दिया गया था। और उसका रूपांतर शासकीय महाविद्यालय में हो गया। अत: वहां पर नियमों और आदेशोंका राज अधिक चलता था। अण्णासाहब पुराने अनुभवी प्राचार्य थे; उन्होंने प्रशासनिक दृष्टि से कॉलेज का कार्यभार सुचारु रूप से संभाला। संतोष की बात इतनी ही थी कि अण्णासाहब को पुनश्च अपने उस पुराने माहौल में शामिल होने का अवसर मिला, इससे उनके वे दिन काफी सुखपूर्वक बीत सके । हां लेकिन लखनऊ से मुक्त हो जाने

के बाद अण्णासाहब को अहमदाबाद के एक संगीत केंद्र में बुलाया गया। श्रीमती गीताबेन मयोर, सेठ अंबालाल साराभाई की पुत्री इस केंद्र को चलाती थी। वह पं. वाड़ीलाल शिवराम की शिष्या हैं। उनके पास पं. भातखंडेजी की कुछ बंदिशों की पांडुलिपियां थीं, उन्हें संशोधित करके उनका मुद्रण करने की आवश्यकता थी। इसके लिए अण्णासाहब ही सर्वथा सुयोग्य व्यक्ति थे। यह काम लगभग दो-ढाई साल तक चलता रहा, जिसमें अण्णासाहब महीने में १५ दिन अहमदाबाद जाते और १५ दिन बंबई में ठहरते। बस, इन चंद व्यस्तताओं के बावजूद और कोई खास कार्य अण्णासाहब के जिम्मे नहीं था; अत: ६३-६४ के बाद आप श्रीवल्लभ संगीतालय के परिसर में अपना समय बिताने लगे। वहांका वातावरण प्रेम और आदर से भरा हुआ था। स्वामी श्री वल्लभदास जैसे महानुभावों का सान्निध्य था और संगीत के सिवा और कोई विषय वहां था नहीं ।

●

अब तक संगीताचार्य डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकरजी ने अपनी ७३ वर्षों की आयु में जो जो कार्य किए, जो संगीत-साधना की और भातखंडे कॉलेज को उभारने में तथा खैरागढ़ के संगीत कला विश्वविद्यालय का श्रीगणेश कराने में अपना जो बहुमूल्य योगदान दिया, उसका एक सिंहावलोकन किया गया। परंतु अण्णासाहब जैसे संगीत-विद्यानिधि के व्यक्तित्व का वास्तविक रूप में उद्घाटन तो तभी हो सकता है जब हमें उनके गायक, वाग्गेयकार, ग्रंथकार, विद्यागुरु इत्यादि उनके पहलुओं के भलीभांति दर्शन हो सकेंगे। एक आदर्श व्यक्ति के रूप में उनमे जो गुणसंपदा थी उसकी झलक हम जैसे शिष्यों को अनेक छोटी मोटी घटनाओं में बराबर मिलती रहती थी। खासकर मैं अभिमान के साथ यह कहना चाहता हूं कि अपने बचपन से लेकर ही उनके निकट सान्निध्य में उनके परिवार का एक सदस्य बनकर रहने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ और १९५० तक मैं उन्हीं के बिलकुल साथ में रहा। इसलिए अण्णासाहब के गरिमामय व्यक्तित्व, दिव्य ज्ञान, अद्भुत गान-कौशल, अत्युच्च 'नायक'त्व एवं औघड़ विद्यादानीपन के दर्शन नित्यप्रति पाने का अहोभाग्य मुझे प्राप्त हो सका है। इन सब पहलुओं का सोदाहरण विवेचन तो परमावश्यक है। क्योंकि एक संगीतकार की जीवनी में सर्व सामान्य लौकिक घटनाक्रम की अपेक्षा उसके सांगीतिक कर्तृत्व का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत हो जाना अवश्यभावी होता है।

..... और इसी बिंदु पर हम अगले अध्याय के लिए प्रस्तुत हो सकते हैं।

▶